सचित्र

दार्शनिक निबन्ध

ज्ञानेश्वरार्यः
एम.ए. दर्शनाचार्य

दर्शन योग महाविद्यालय
आर्य वन, रोजड़, पत्रालय : सागपुर,
जि. साबरकांठा, गुजरात - ३८३ ३०७

सचित्र

दार्शनिक निबन्ध
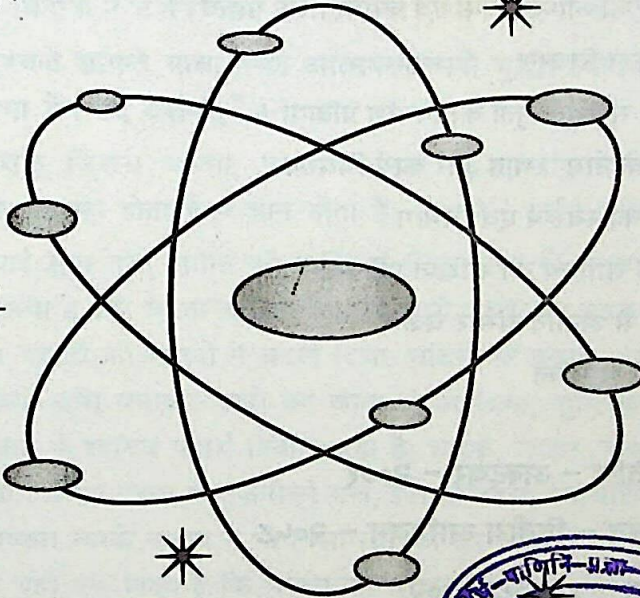
ज्ञानेश्वरार्य :
एम. ए. दर्शनाचार्य

प्रकाशक :
दर्शन योग महाविद्यालय
आर्य वन, रोजड़, पो. सागपुर,
जि. साबरकांठा, गुजरात - ३८३ ३०७.
दूरभाष : (०२७७४) ७७२१७
E-mail : darshanyog@icenet.net

Darshanik Nibandh (Sachitra)
By - Acharya Gyaneshwar Arya
M. A. Darshanacharya

अनुक्रमणिका

प्रकाशन तिथि - अक्टूबर - २००१

विक्रम संवत् - द्वितीय आश्विन - २०५८

सृष्टि संवत् - १९६०८५३१०२

❖ मुख्य वितरक ❖
आर्य रणसिंह यादव
द्वारा - डॉ. सद्गुणा आर्या
'सम्यक्' पो. गांधीग्राम, जूनागढ - ३६२००१.

पंचम परिवर्धित संस्करण

लागत व्यय : ५-०० रुपये

मुद्रक : आकृति प्रिन्टर्स
ने.हा. ८, रखियाल, अहमदाबाद-३८००२३. दूरभाष : (०७९) २७६०४६७

दर्शनों का आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक महत्त्व

सर्व प्रथम '**दर्शन**' शब्द का क्या अर्थ होता है, यह हमें जानना चाहिए। दार्शनिक विद्वानों ने 'दर्शन' शब्द की परिभाषा निम्न प्रकार से की है -

"दृश्यन्ते ज्ञायन्ते याथातथ्यत आत्मपरमात्मनो बुद्धीन्द्रियादयोऽतीन्द्रियाः सूक्ष्मविषया येन तद् दर्शनम्" ।

अर्थात् जिससे आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि सूक्ष्म विषयों का प्रत्यक्ष होता है = ज्ञान होता है, उसको '**दर्शन**' कहते हैं ।

स्थाई सुख तथा शान्ति की प्राप्ति के लिए आज के मनुष्य ने अत्यन्त पुरुषार्थ किया है और करता जा रहा है इसने सारी पृथ्वी का स्वरूप ही बदल दिया है । पहाड़ों को मैदानों में बदल दिया, नदियों के प्रवाह मोड़ दिये; इन पर बड़े-बड़े बाँध बनाकर नहरों का जाल बिछा दिया, भूमि के गर्भ में से हजारों प्रकार के खनिज पदार्थ निकाल रहा है; सड़कें, वाहन, संचार-साधन, रॉकेट तथा विभिन्न प्रकार के तकनीकी यन्त्र, इलैक्ट्रॉनिक्स, सिन्थेटिक्स-साधनों का आविष्कार करके मनुष्य ने भोग-सामग्री का ढेर लगा दिया है । इन सब कार्यों का यही एक लक्ष्य है कि मनुष्य का जीवन सुखी हो, शान्त हो, निर्भय हो । किन्तु गहराई से निरीक्षण करें तो हमें पता चलता है कि इतना सब कुछ किये जाने के बाद भी इस मनुष्य का जीवन पूर्व की अपेक्षा और अधिक अशान्त, भयभीत तथा दुःखी बन गया है ।

इसका कारण क्या रहा, इसके पीछे कौन सी भूल रही, यह हमें जानना चाहिए । मनुष्य ने अज्ञान से यह मान लिया है कि **"अधिक से अधिक प्राकृतिक भोग-सामग्री को प्राप्त कर लेने से मेरे सारे रोग, दुःख, भय समाप्त हो जायेंगे ।"** इसने अपने जीवन का परम लक्ष्य मात्र वित्त (=धन + भोग सामग्री) बना लिया है । प्राचीन ऋषियों ने पूर्ण तथा स्थायी सुख-शान्ति प्रदान करने वाली जिन अध्यात्मविद्याओं का उपदेश किया था, उन विद्याओं को मनुष्य ने बिल्कुल भुला दिया है । जीवन में से ईश्वर, धर्म, सादगी, संयम, तपस्या को बिल्कुल निकाल दिया और दिनचर्या को ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग, यज्ञ, सेवा-परोपकार से रहित, भोग परायण बना दिया है ।

यद्यपि पूर्व की अपेक्षा आज मनुष्य के पास भौतिक धन सम्पत्ति और भोग्य-सामग्री कहीं अधिक हो गई है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य दरिद्र, भीरु, इन्द्रियदास, दीन-हीन तथा पशुवत् बन कर रह गया है। मनुष्य में परस्पर प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, परोपकार की भावना नष्ट प्राय हो गई है।

हजारों वर्ष पूर्व हमारे तत्त्ववेत्ता, महावैज्ञानिक, आप्त, दार्शनिक ऋषियों ने पूर्णतया स्थायी सुख की प्राप्ति के विषय में अपने महत्वपूर्ण निर्णय दिये हैं। इस सम्बन्ध में महर्षि कपिल जी ने कहा -

न दृष्टात् तत् सिद्धिर्निवृत्तेरऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्। (सांख्य दर्शन १-२)

अर्थात् प्राकृतिक दृष्ट साधन-धन, सम्पत्ति, भूमि, भवन, स्त्री, नौकर-चाकर, वाहनादि से सम्पूर्ण दुःखों का नाश संभव नहीं है। इसी सिद्धान्त को महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने निम्न शब्दों में कहा -

अमृतत्त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन इति। (बृ.उ. ३-३-२)

अर्थात् केवल धन-सम्पति से परम सुख=मोक्ष प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती। ब्रह्मचारी नचिकेता ने भी अनुभव के आधार कहा -

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः (कठोपनिषद् १-१-२७)

अर्थात् धनादि विषय-भोगों से मनुष्य कदापि तृप्त नहीं हो सकता।

भोजन से भूख मिट सकती है, नंगापन नहीं, वस्त्र से नंगापन मिट सकता है, किन्तु चोर-डाकू से रक्षा नहीं हो सकती, इसके लिए मकान की आवश्यकता होती है। ऐसे ही स्त्री, नौकर, वाहनादि सब भौतिक पदार्थ किसी एक प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, किन्तु धन से प्राप्त ये सभी भौतिक साधनें मिलकर भी **'आत्मा की भूख-प्यास'** को नहीं मिटा सकते, इसके लिए तो दर्शनों में प्रतिपादित आध्यात्मिक साधना का मार्ग ही अपनाना पड़ता है।

" समस्त समस्याओं का समाधान एक ब्रह्म को जान लेने से ही सम्भव है " इस सिद्धान्त के अनुसार ही महर्षि व्यास जी ने अपने ग्रन्थ वेदान्तदर्शन का प्रथम सूत्र **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।** १-१-१, बनाया।

मनुष्य ने चाहे कितनी ही भाषाओं, विद्याओं, कलाओं को सीख लिया हो; कितनी ही उपाधियों, यश प्रतिष्ठा, धन-ऐश्वर्य को क्यों न प्राप्त कर लिया हो, जीवन पथ पर रोग, अभाव, विश्वासघात, हानि, वियोग,

अपमान, अन्याय से सम्बन्धित दुःख आ ही जाते हैं । ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में मनुष्य चिन्तित, निराश एवं अशान्त हो जाता है । सारी आशाएँ व कल्पनाएँ नष्ट हो जाती हैं । सब कुछ अंधकारमय दिखाई देता है । घटनाओं से सम्बन्धित विचारों पर नियंत्रण न रख पाने के कारण मनुष्य अत्यन्त क्षुब्ध अथवा पागल सा हो जाता है । कोई भी समाधान न प्राप्त कर सकने के कारण उत्पन्न हुए महादुःख से बचने के लिए वह, कुएँ में गिरकर, विष खाकर, मिट्टी का तेल डालकर, गाड़ी के नीचे आकर, फाँसी के फन्दे पर लटक कर या अन्य किसी प्रकार से जीवन को ही समाप्त कर लेता है । अथवा क्रोध के वशीभूत होकर दूसरों का अनिष्ट कर देता है, फिर चाहे परिणाम स्वरूप जीवन भर पश्चात्ताप की अग्नि में क्यों न जलना पड़े या जेल के बन्धन का जीवन क्यों न काटना पड़े ।

ऐसी अवस्था मे यदि व्यक्ति अपने मन में उठने वाले इन प्रतिकूल विचारों को रोकने में समर्थ हो जाए अथवा इन विचारों से प्रभावित न हो अथवा इन समस्याओं का यथोचित समाधान निकाल ले, तो वह उपर्युक्त सभी अनर्थों से बच सकता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ईर्ष्या–द्वेषादि मानसिक रोग हैं, इनका समाधान धन–सम्पत्ति से कदापि नहीं हो सकता । इन सब रोगों का समाधान तो आत्मा–परमात्मा सम्बन्धी अध्यात्मविद्या को पढ़–समझकर और व्यवहार में लाने से ही सम्भव है । मनुष्यों के कल्याणार्थ इन अध्यात्म विद्याओं का वर्णन हमारे पूज्य ऋषियों ने अपने दर्शनों में विस्तार से किया है ।

सूक्ष्मता से निरीक्षण किया जाये तो पता चलता है, कि दर्शनों में वर्णित आत्मा–परमात्मा के यथार्थ स्वरूप (=उनके गुण, कर्म, स्वभाव) का ज्ञान न होने के कारण ही सम्पूर्ण मानव समाज में आज हिंसा, झूठ, छल, कपट, चोरी, जारी तथा अन्य नैतिक दोष उत्पन्न हो गये हैं । यदि मनुष्य–शरीर, मन, इन्द्रिय के पीछे, इन सबकी नियंत्रक, चेतन शक्ति '**आत्मा**' को तथा दृश्यमान विशाल ब्रह्माण्ड के पीछे विद्यमान अदृश्य, नियंत्रक चेतन शक्ति '**परमात्मा**' को जान ले, तो विश्व की सारी समस्याएँ सरलता से दूर हो सकती हैं । इन दोनों शक्तियों को जाने बिना अथवा गलत रूप में जानकर उपर्युक्त समस्याओं का चाहे अन्य कोई भी समाधान मनुष्य निकाले, वह अपूर्ण ही रहेगा । समस्त दर्शनों की अध्यात्मविद्याओं का सार हम एक ही

वाक्य में जानना चाहें तो महर्षि याज्ञवल्क्य की इस पंकित को जान लेना पर्याप्त होगा -

" आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम् " (बृहदारण्यकोपनिषद् ४-५)

अर्थात् आत्मा को ही जानना चाहिए , उसकी चर्चा-व्याख्यान सुनना चाहिए, उस पर मनन-चिन्तन करना चाहिए , उसका ही विशेष ध्यान करना चाहिए, आत्मा के दर्शन (ज्ञान) से, उपदेश सुनने से, मनन करने से, पूर्णतया जान लेने से यह सब (चराचर-जगत्) ज्ञात हो जाता है, सब कुछ प्राप्त हो जाता है ।

वैदिककाल में, मन इन्द्रियों को रोककर आत्म-साक्षात्कार करने की इस क्रिया का इतना अधिक महत्त्व था कि पाँच वर्ष का छोटा सा बालक जब गुरुकुल में पढ़ने जाता था तब से ही आचार्य उसे प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त से उठाकर, एकान्त शान्त स्थान में बिठाकर, आसन लगवाकर, आँखें बन्द कराकर, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि लगाने जैसी सूक्ष्म क्रियाएँ सिखाना प्रारंभ कर देता था । ऐसा ही ऋषि-मुनि लोग स्वयं किया करते थे । यह क्रिया मृत्यु पर्यन्त चलती रहती थी, चाहे वह अभ्यासी किसी भी आश्रम में क्यों न हो, किसी भी व्यवसाय को क्यों न करता हो ।

दर्शनों में इस क्रिया को **' योग '** = (समाधि उपासना) नाम से कहा गया है । जीवात्मा चेतन है, ज्ञानी है, कर्त्ता है, मन आदि का चालक है । मन जड़ है । जीवात्मा प्रत्येक क्षण, अपनी इच्छा से ही, जड़ मन को प्रेरित करके, किसी न किसी वस्तु के विषय में चिन्तन=ज्ञान करता ही रहता है । मन के इस व्यापार (=कार्य) के लिए दर्शनों में **'वृत्ति '** शब्द का प्रयोग हुआ है । मन की बाह्य और आन्तरिक विषयों से सम्बन्धित वृत्तियों को रोक देना **' योग '** है ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । (योग दर्शन १/२)

यही बात महर्षि कणाद जी ने अपने शब्दों में इस प्रकार कही है -

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ।

(वैशेषिक दर्शन ५/२/१६)

अर्थात् जो मनुष्य अपने मन को, समस्त सांसारिक विषयों से हटाकर आत्मा-परमात्मा में स्थित कर लेता है, तब वह समस्त शारीरिक, मानसिक

दुःखों से रहित हो जाता है, इसे ही '**योग**' कहते हैं। '**योगाभ्यास किस स्थान पर करे**' इस विषय में महर्षि गौतम ने निर्देश किया कि -

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः । (न्याय दर्शन ४/२/४२)

अर्थात् योगसाधना के लिए जंगल, गुफा, नदी का किनारा आदि स्थान उपयुक्त है। यदि ऐसा स्थान उपलब्ध न हो तो किसी भी शान्त, एकान्त स्थान पर योग साधना की जा सकती है।

एकान्त स्थान पर बैठकर सर्वप्रथम सिद्धासन, पद्मासन या अन्य कोई ध्यान का आसन लगाना चाहिए। आसन लगाकर मन की चञ्चलता को रोकने के लिए श्वास और प्रश्वास की गति को यथा सामर्थ्य रोक कर '**प्राणायाम**' करना चाहिए।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । (योग० २/४९)

प्राणायाम आदि क्रियाओं के करने पर जब 'मन तथा इन्द्रियाँ वश में आ जाती है इस स्थिति को दर्शन में '**प्रत्याहार**' कहा गया है।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । (योग० २/५४)

प्रत्याहार के पश्चात् आत्मा या परमात्मा का ध्यान करने के लिए आँखे बन्द करना चाहिए, इस क्रिया को '**धारणा**' कहा जाता है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । (योग०३/१)

धारणा के पश्चात् '**ध्यान**' की क्रिया करनी चाहिए। मन को स्थिर करके परमात्मा का अनुभव=प्रत्यक्ष करने के लिए किसी वेद-मन्त्र या अन्य शास्त्रोक्त शब्दों से परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करना, बीच में किसी अन्य विषय का स्मरण न करना '**ध्यान**' कहलाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । (योग० ३/२)

शब्द-प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण के माध्यम से ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करते-करते जब योगाभ्यासी ईश्वर का प्रत्यक्ष करता है अर्थात् ईश्वर के आनन्द में निमग्न हो जाता है, तो उस अवस्था को "**समाधि**" कहते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । (योग० ३/३)

जो व्यक्ति नित्यप्रति इसी प्रकार योग-साधना करता है उसका सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, निराकार, अभय, पवित्र, आनन्द-

स्वरूप परमेश्वर के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और समाधि-काल में योग साधक ईश्वर से ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता, स्वतंत्रता आदि की प्राप्ति करता है । यही योग-साधना का फल है ।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । (योग० १/३)

योग, सांख्य आदि दर्शनों में वर्णित, इस अध्यात्म-विद्या से ही मनुष्य अपने नित्य, निराकार, एकदेशी, अणु, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, कर्त्ता, भोक्ता तथा चेतन '**जीव-स्वरूप**' को जान लेता है । इसी विद्या से समस्त संसार के भौतिक पदार्थों को भी (जिसमें शरीरादि भी सम्मिलित हैं) जड़, विकारी, परिणामी, नाशवान् तथा दुःख मिश्रित-सुख देने वाले समझ लेता है ।

इसी योगाभ्यास से ही साधक अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण करके जिस विषय पर मन को लगाना चाहता है, लगा देता है; और जिस विषय से मन को हटाना चाहता है, हटा लेता है । मन को नियंत्रण में रखने से ही वह प्रसन्न रहता है । योगाभ्यासी की एकाग्रता बढ़ती है, स्मृति-शक्ति विकसित होती है तथा बुद्धि सूक्ष्म होती है । इन सब आध्यात्मिक सम्पत्तियों की सहायता से उसके सारे कार्य सफल होते हैं । योगाभ्यासी अपने मन में विद्यमान काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेषाधि के कुसंस्कारों को स्पष्ट रूप से अनुभव करके, उनको विविध उपायों से नष्ट करने में सफल हो जाता है । अन्यथा इन संस्कारों की विद्यमानता में वह अनिष्ट कार्यों को करके दुःख को प्राप्त होता ही रहता है ।

मिथ्याज्ञान के संस्कारों के नष्ट होते ही अब साधक का जीवन स्वस्वामिसम्बन्ध (=ममत्व, मैं-मेरा) से रहित, निष्कामभावना वाला बन जाता है । ऐसी अवस्था में वह साधक '**ईश्वरप्रणिधान**' को अपनाता है । ईश्वर मुझे देख, सुन, जान रहा है, यह भावना मन में बनाये रखना, '**ईश्वरप्रणिधान**' कहलाता है । '**ईश्वरप्रणिधान**' में स्थित साधक शरीर, बुद्धि, बल, विद्या, धनादि समस्त साधनों को ईश्वर-प्रदत्त मानकर, उनका प्रयोग मन-वाणी तथा शरीर से ईश्वर की प्राप्ति के लिए ही करता है, लौकिक उद्देश्य-धन, मान, यश आदि की प्राप्ति के लिए नहीं करता । ऐसा व्यक्ति नितान्त, सन्तुष्ट, निर्भय तथा आनन्दित रहता है । इस अवस्था में संसार की उथल पुथल उसको प्रभावित नहीं कर पाती, ऐसे व्यक्ति को दर्शनकारों ने '**जीवनमुक्त**', '**स्वस्थ**' तथा '**केवल**' नाम से दर्शाया है ।

ऋषियों के दर्शनों में जहाँ उच्चस्तरीय आध्यात्मिक विद्याओं का वर्णन है, वहाँ जनसामान्य के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा व्यावहारिक सिद्धान्तों का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इन व्यावहारिक सिद्धान्तों को परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व में लागू करने से ही मनुष्यों में परस्पर प्रेम, विश्वास, श्रद्धा, सेवा, सहयोग तथा संगठन की भावना उत्पन्न होती है, अन्यथा नहीं। ये सिद्धान्त = नियम इतने सर्व-प्रिय हैं कि इनका निषेध कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता है, चाहे वह किसी भी देश, जाति, मत, पंथ, सम्प्रदाय, भाषा, रंग-रूप-आकृति से सम्बन्धित क्यों न हो। ये सिद्धान्त हैं '**यम**' और '**नियम**'।

अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः। (योग० २-३०)

शौचसन्तोषतप :स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग० २-३२)

यमों का सम्बन्ध समाज से अधिक है, जबकि नियमों का सम्बन्ध व्यक्ति से अधिक है। पाँच यमों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है –

१. अहिंसा – ईश्वर द्वारा उत्पन्न प्रत्येक प्राणी को संसार में जीवित रहने का अधिकार है। प्रत्येक प्राणी चाहता है कि मुझे किसी अन्य प्राणी से भय न हो, दुःख न मिले। इस अधिकार का सम्बन्ध अहिंसा से है। शरीर, वाणी तथा मन से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर भाव छोड़ कर प्रेम-पूर्वक व्यवहार करना '**अहिंसा**' कहलाती है। समाज में मनुष्य जितनी मात्रा में अहिंसा के नियम का पालन करेंगे, उतनी ही मात्रा में समाज में सुख, शान्ति व निर्भयता होगी।

२. सत्य – दूसरे सिद्धान्त का सम्बन्ध परस्पर विश्वास से है। विश्वास सत्याचरण से उत्पन्न होता है। सामाजिक व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य जैसी प्रतिज्ञा करे उसका उसी रूप में पालन करे अन्यथा सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। जैसा देखा हुआ, सुना हुआ, पढ़ा हुआ तथा अनुमान किया हुआ ज्ञान मन में हो, वैसा ही वाणी से बोलना, शरीर से आचरण करना '**सत्य**' कहलाता है।

३. अस्तेय – तीसरे सिद्धान्त का सम्बन्ध व्यक्ति के द्वारा परिश्रम से उपार्जित धन-सम्पत्ति की रक्षा से है। जब समाज में मनुष्य अनीति, अन्याय, छल, कपट, चोरी से दूसरे का अधिकार छीनने लग जाते हैं, तो सुख, शान्ति की बात तो दूर रही, जीवन व्यतीत करना ही कठिन हो जाता है। इसको

रोकने के लिए ऋषियों ने '**अस्तेय**' का नियम बनाया । किसी वस्तु को स्वामी की आज्ञा के बिना न लेना, न लेने के लिये किसी को वाणी से कहना और मन से भी लेने की इच्छा न करना '**अस्तेय**' कहलाता है ।

४. ब्रह्मचर्य - चौथे सिद्धान्त का सम्बन्ध समाज की पवित्रता बनाये रखने से है । यह पवित्रता तब सम्भव है जब समाज में मनुष्य एक-पत्नीव्रत तथा एक-पतिव्रत धर्म का पालन करे । जिस समाज में छल, बल, धन तथा लोभ से पराई माँ, बहिन, बेटी के चरित्र को नष्ट किया जाता है, वह मनुष्य-समाज न रह कर पशु-समाज बन जाता है, जैसा कि आज देख रहें हैं । मन-इन्द्रियों पर संयम करके शारीरिक शक्तियों की रक्षा करना '**ब्रह्मचर्य**' कहलाता है । यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति कामोत्तेजक पदार्थ (=शराब, मांस, नशीली वस्तुएँ) छोड़ दे तथा अश्लील पुस्तकों चित्रों व दृश्यों को न पढ़े, न देखें ।

५. अपरिग्रह - पाँचवा सिद्धान्त, विषय-वासनाओं तथा तृष्णाओं पर नियंत्रण रखने से सम्बन्धित है । ऐसा नियंत्रण समाज में न हो, तो व्यक्ति शरीर इन्द्रियों की तृष्णा की पूर्ति के लिए येन-केन प्रकारेण अनुचित साधनों का भी प्रयोग करके अधिकाधिक भोग सामग्री जुटाता है । परिणाम स्वरूप निर्बल, निर्धन, निर्बुद्धि तथा निम्न वर्ग को जीवन यापन की अत्यावश्यक वस्तुएँ भी उपलब्ध नहीं हो पातीं । इसके लिए ऋषियों ने '**अपरिग्रह**' का नियम बनाया । वस्तुओं का संग्रह अपनी आवश्यकताओं से अधिक न करना '**अपरिग्रह**' कहलाता है ।

इन उपरोक्त पाँच कर्त्तव्यों = व्रतों के रूप में, ऋषियों ने दर्शनों में जो व्यावहारिक शिक्षा दी है, उसको समाज में लागू किये बिना, आध्यात्मिक उन्नति, सुख-शान्ति की बात तो दूर रही, सामान्य व्यवहार भी ठीक प्रकार से नहीं चल सकते । समाज में सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए , इन अहिंसा आदि यमों का प्रत्येक मनुष्य को, अनिवार्य रूप से पालन करना चाहिए । किसी भी स्थान, जाति, काल तथा परिस्थिति में छूट नहीं होनी चाहिए ।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् । (योग० २-३१)

नियमों के रूप में ऋषियों ने जिन कर्त्तव्य कर्मों का निर्देश किया है, उनका सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से अधिक है । मनुष्य जितना-जितना इनका पालन करता है, उतना उतना उसका जीवन उन्नत होता जाता है । तथा

परोक्षरूप में समाज पर भी इसका प्रभाव पड़ता है ।

१. शौच - धर्म-अर्थ काम-मोक्ष की प्राप्ति का आधार शरीर है, अतः शरीर को स्वस्थ, बलवान् और दीर्घायु बनाने के लिए आहार आदि को पवित्र रखना चाहिए, यह बाह्य शुद्धि है । इससे भी अधिक, मन की आन्तरिक पवित्रता महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् रागद्वेष आदि भावों से रहित करके मन को पवित्र रखना '**शौच**' कहलाता है ।

२. सन्तोष - विषय भोगों की प्रवृत्ति के ऊपर नियंत्रण न रखा जावे, तो मनुष्य सदा असन्तुष्ट ही बना रहता है । अतः सन्तोष का पालन जीवन में आवश्यक है । विद्यमान ज्ञान, बल, तथा साधनों से पूर्ण पुरुषार्थ करने पर जो धनादि वस्तुएँ प्राप्त हों, उतने से ही प्रसन्न रहना '**सन्तोष**' कहलाता है ।

३. तप - किसी भी लक्ष्य=कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए बाधाओं से संघर्ष करना ही पड़ता है । कर्त्तव्य-कर्मों को करते हुए मान-अपमानादि को सहन करना '**तप**' कहलाता है ।

४. स्वाध्याय - मिथ्याज्ञान ही मनुष्य के दुःखों का मूल कारण है । अतः उत्तम-उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन और आत्म-चिंतन करना चाहिए इसे '**स्वाध्याय**' कहते हैं ।

५. ईश्वरप्रणिधान - सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, न्यायकारी ईश्वर मुझे देख, सुन, जान रहा है ऐसा विश्वास करके प्रत्येक कार्य करना '**ईश्वरप्रणिधान**' कहलाता है ।

मन को प्रसन्न तथा शान्त बनाये रखने का कारण मनुष्य का अपना व्यवहार ही है । समाज में अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं ' उनके साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए ' यह बात महर्षि पतञ्जलि जी ने एक सूत्र में बहुत ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत की है -

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां -
भावनातश्चित्तप्रसादनम् । (योग० १-३३)

अर्थात् संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं-सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा पापी; इनके साथ क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता तथा उपेक्षा का भाव=व्यवहार रखने से मन प्रसन्न बना रहता है ।

प्रायः यह देखने को मिलता है कि समाज में धन-सम्पत्ति, भोग-ऐश्वर्य

से सम्पन्न व्यक्ति को देखकर लोग ईर्ष्या-द्वेष करते हैं और दुःखी रहते हैं। ऋषि ने बताया कि ऐसे सुखी व्यक्तियों के साथ मित्र-भाव बनाना चाहिये, क्योंकि मित्र के प्रति ईर्ष्या आदि के भाव उत्पन्न नहीं होते। दूसरे, दुःखीजनों के प्रति सदा दया दृष्टि, हार्दिक सहानुभूति का भाव रखना चाहिए, ऐसा करने से उनके प्रति घृणा या तिरस्कार की भावना नहीं बनती। तीसरे, पुण्यात्मा = धार्मिक, विद्वान, प्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रति हर्ष=प्रसन्नता का भाव बनाना चाहिए, ऐसा करने से उनको कलंकित करने या उनकी निन्दा करने की भावना मन में उत्पन्न नहीं होती। चौथे, जो पापी=दुष्ट प्रवृत्ति वाले मनुष्य हैं, उनके प्रति उपेक्षा=उदासीनता का भाव रखना चाहिए। क्योंकि ऐसे व्यक्ति अपने हितैषियों की हानि करने और उनके कार्यों में बाधा डालने का ही प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्तियों से न प्रेम अच्छा और न वैर, उपेक्षा ही उत्तम है।

महानुभावो ! वैदिक-दर्शनों में ऋषियों ने '**भोगवाद**' तथा '**त्यागवाद**' दोनों की उपयोगिता बताकर समन्वयवाद की स्थापना की है। आत्मा परमात्मा को अस्वीकार करके, शरीर व संसार को ही केवल भोग्य मानना '**भोगवाद**' है। शरीर व संसार की नितान्त उपेक्षा करके केवल ब्रह्म को ही मानना '**त्यागवाद**' है। जबकि वास्तविकता यह है कि शरीर व संसार सत् है ईश्वर-प्रदत्त साधन है, इसकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसका उपयोग भी आवश्यक है। किन्तु शरीर व संसार सत् होते हुए भी अनित्य हैं, सदा साथ रहने वाले नहीं हैं। अतः संसार को भोगना है और त्यागना भी है। "संसार में डुबकी लगाओ अर्थात् सदुपयोग करो और '**अभ्युदय**' को प्राप्त करो। किन्तु इसमें डूबे ही मत रहो, इसको परिणामी, विकारी तथा नाशवान् मानकर इससे विरक्त होकर '**निःश्रेयस्**' को प्राप्त करो" यही ऋषियों का समन्वयवादी दृष्टिकोण है। इसी सिद्धान्त को वेद में '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' शब्दों से कहा है।

आओ ! ऋषियों ने, अपने दर्शनों में सत्य-सनातन वैदिक-धर्म से सम्बन्धित संस्कृति, सभ्यता, रीति-नीति की जिन आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक बातों का वर्णन किया है, उनको फिर से जीवन में अपना कर महान् बनें। साथ ही आज के भटके मानव-समाज को सही दिशा दिखाकर, सुखी, सम्पन्न तथा उन्नत करने का प्रयास करें।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

कर्म फल विवरण

कर्मों का फल कब, कैसा, कितना मिलता है, यह जिज्ञासा सभी धार्मिक व्यक्तियों के मन में होती है। कर्मफल देने का कार्य मुख्य रूप से ईश्वर द्वारा संचालित व नियंत्रित है, वही इसके पूरे विधान को जानता है। मनुष्य इस विधान को कम अंशो में व मोटे तौर पर ही जान पाया है, उसका सामर्थ्य ही इतना है। ऋषियों ने अपने ग्रंथों में कर्मफल की कुछ मुख्य-मुख्य महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन किया है, उन्हें इस लेख में व संबंधित चित्र (Chart) में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

कर्मफल सदा कर्म के अनुसार मिलते हैं। फल की दृष्टि से कर्म दो प्रकार के होते हैं - **१. सकाम कर्म २. निष्काम कर्म**। सकाम कर्म उन कर्मों को कहते हैं, जो लौकिक फल (धन, पुत्र, यश आदि) को प्राप्त करने की इच्छा से किए जाते हैं। तथा निष्काम कर्म वे होते हैं, जो लौकिक फलों को प्राप्त करने के उद्देश्य से न किए जाएँ बल्कि ईश्वर/मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से किए जाएँ।

सकाम कर्म तीन प्रकार के होते हैं - अच्छे, बुरे व मिश्रित। अच्छे कर्म - जैसे सेवा, दान, परोपकार करना आदि। बुरे कर्म - जैसे झूठ बोलना, चोरी करना आदि। मिश्रित कर्म - जैसे खेती करना आदि, इसमें पाप व पुण्य (कुछ अच्छा व कुछ बुरा) दोनों मिले-जुले रहते हैं।

निष्काम कर्म सदा अच्छे ही होते हैं, बुरे कभी नहीं होते। सकाम कर्मों का फल अच्छा या बुरा होता है, जिसे इस जीवन में या मरने के बाद मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरों में अगले जीवन में जीवित अवस्था में ही भोगा जाता है। निष्काम कर्मों का फल ईश्वरीय आनंद की प्राप्ति के रूप में होता है, जिसे जीवित रहते हुए समाधि अवस्था में व मृत्यु के बाद बिना जन्म लिए मोक्ष अवस्था में भोगा जाता है।

जो कर्म इसी जन्म में फल देने वाले होते हैं, उन्हें **'दृष्टजन्मवेदनीय'** कहते हैं और जो कर्म अगले किसी जन्म में फल देने वाले होते हैं, उन्हें **'अदृष्टजन्मवेदनीय'** कहते हैं। इन सकाम कर्मों से मिलने वाले फल तीन

कर्मफल विवरण

संपादक - ज्ञानेश्वरार्य
दर्शन योग महाविद्यालय,
आर्य वन, रोजड़,
सागपुर, (साबरकांठा)
गुजरात-३८३३०७
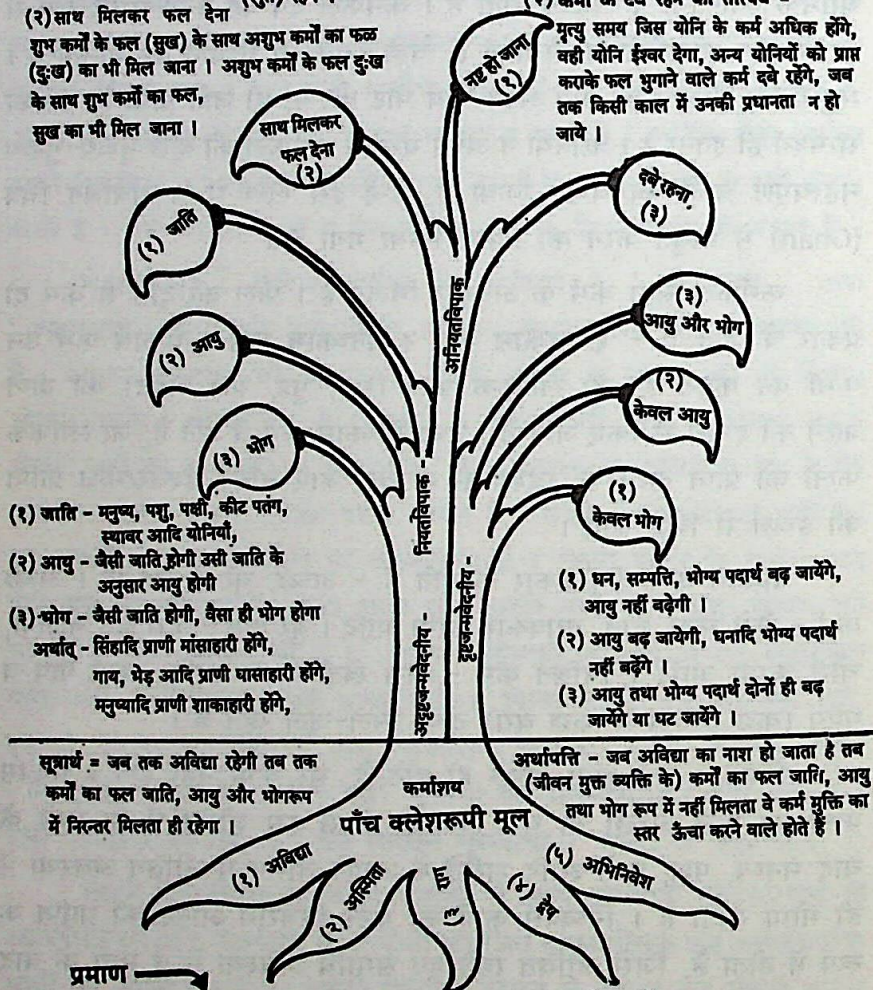
क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः । योगदर्शन-२-१२

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । योगदर्शन-२-१३

प्रकार के होते हैं - **१. जाति २. आयु ३. भोग**। समस्त कर्मों का समावेश इन तीनों विभागों में हो जाता है। जाति अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, वनस्पति आदि विभिन्न योनियाँ, आयु अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक का बीच का समय, भोग अर्थात् विभिन्न प्रकार के भोजन, वस्त्र, मकान, यान आदि साधनों की प्राप्ति। जाति, आयु व भोग इन तीनों से जो '**सुख-दुःख**' की प्राप्ति होती है, कर्मों का वास्तविक फल तो वही है। किन्तु सुख-दुःख रूपी फल का साधन होने के कारण '**जाति, आयु, भोग**' को फल नाम दे दिया गया है।

'**दृष्टजन्मवेदनीय**' कर्म किसी एक फल = आयु व भोग को दे सकते हैं। जैसे उचित आहार-विहार, व्यायाम, ब्रह्मचर्य, निद्रा आदि के सेवन से शरीर की रोगों से रक्षा की जाती है तथा बल-वीर्य, पुष्टि, भोग सामर्थ्य व आयु को बढ़ाया जा सकता है, जबकि अनुचित आहार, विहार आदि से बल, आयु आदि घट भी जाते हैं।

दृष्टजन्मवेदनीय कर्म ' जाति रूप फल ' को देने वाले नहीं होते हैं क्योंकि जाति (=योनि) तो इस जन्म में मिल ही चुकी है, उसे जीते जी बदला नहीं जा सकता, जैसे मनुष्य शरीर की जगह पशु शरीर बदल लेना। हाँ मरने के बाद तो शरीर बदल सकता है, पर मरने बाद नई योनि को देने वाला कर्म **अदृष्टजन्मवेदनीय** कहा जाएगा न कि **दृष्टजन्मवेदनीय**।

अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म दो प्रकार के होते हैं - **१. नियत विपाक २. अनियत विपाक**। कर्मों का ऐसा समूह जिसका फल निश्चित हो चुका हो और जो अगले जन्म में फल देने वाला हो उसे '**नियत विपाक**' कहते हैं। कर्मों का ऐसा समूह जिसका फल किस रूप में व कब मिलेगा, यह निश्चित न हुआ हो उसे '**अनियत विपाक**' कहते हैं।

कर्म फल को शास्त्र में '**कर्माशय**' नाम से कहा गया है। '**नियत विपाक कर्माशय**' के सभी कर्म परस्पर मिलकर (संमिश्रित रूप में) अगले जन्म में **जाति, आयु, भोग** प्रदान करते हैं। इन तीनों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से जानने योग्य है -

१. जाति - इस जन्म में किए गए कर्मों का सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण फल अगले जन्म में जाति-शरीर के रूप में मिलता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, स्थावर = वृक्ष के शरीरों को जाति के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। यह जाति भी अच्छे व निम्न स्तर की होती है यथा मनुष्यों में पूर्णाङ्ग, सुंदर-कुरूप,

बुद्धिमान्-मूर्ख आदि, पशुओं में गाय, घोड़ा, गधा, सूअर आदि ।

२. आयु - नियत विपाक कर्माशय का दूसरा फल आयु अर्थात् जीवनकाल के रूप में मिलता है । जैसी जाति (शरीर = योनि) होती है, उसी के अनुसार आयु भी होती है । यथा मनुष्य की आयु सामान्यतया १०० वर्ष; गाय, घोड़ा आदि पशुओं की २५ वर्ष; तोता, चिड़िया आदि पक्षियों की २-४ वर्ष; मक्खी, मच्छर, भौंरा, तितली आदि कीट पतंगों की २-४-६ मास की होती है । मनुष्य अपनी आयु को स्वतंत्रता से एक सीमा तक घटा-बढ़ा सकता है ।

३. भोग - ' नियत विपाक कर्माशय ' का तीसरा फल भोग (= सुख-दुःख को प्राप्त कराने वाले साधन) के रूप में मिलता है । जैसी जाति (शरीर=योनि) होती है, उसी जाति के अनुसार भोग होते हैं । जैसे मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि साधनों से मकान, कार, रेल, हवाई जहाज, मिठाई, पंखा, कूलर आदि साधनों को बनाकर, उनके प्रयोग से विशेष सुख को भोगता है । किन्तु गाय, भैंस, घोड़ा, कुत्ता आदि पशु केवल घास, चारा, रोटी आदि ही खा सकते हैं, कार-कोठी नहीं बना सकते । शेर, चीता, भेड़िया आदि हिंसक प्राणी केवल माँस ही खा सकते हैं, वे मिठाई; गाड़ी, मकान, वस्त्र आदि की सुविधाएँ उत्पन्न नहीं कर सकते हैं । जैसा कि पूर्व कहा गया कि **' नियत विपाक कर्माशय '** से मिली आयु व भोग पर **' दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय '** का प्रभाव पड़ता है, जिससे आयु व भोग घट-बढ़ सकते हैं, पर ये एक सीमा तक (उस जाति के अनुरूप सीमा में) ही बढ़ सकते हैं ।

अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के अन्तर्गत **'अनियतविपाक '** कर्मों का फल भी जाति, आयु, भोग के रूप में ही मिलता है, परन्तु यह फल कब व किस विधि से मिलता है, इसके लिए शास्त्र में तीन स्थितियाँ (गतियाँ) बताई गई हैं । **१. कर्मों का नष्ट हो जाना, २. साथ मिलकर फल देना, ३. दबे रहना ।**

१. प्रथम गति - कर्मों का नष्ट हो जाना - वास्तव में बिना फल को दिए कर्म कभी भी नष्ट नहीं होते, किन्तु यहाँ प्रकरण में नष्ट होने का तात्पर्य बहुत लम्बे काल लुप्त हो जाना है । किसी भी जीव के कर्म सर्वांश में कदापि समाप्त नहीं होते, जीव के समान वे भी अनादि-अनन्त हैं । कुछ न कुछ मात्रा संख्या में तो रहते ही हैं, चाहे जीव मुक्ति में भी क्यों न चला जावे । अविद्या (राग-द्वेष) के संस्कारों को नष्ट करके जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, जितने

कर्मों का फल उसने अब तक भोग लिया है, उनसे अतिरिक्त जो भी कर्म बच जाते हैं, वे मुक्ति के काल तक ईश्वर के ज्ञान में बने रहते हैं । इन्हीं बचे कर्मों के आधार पर मुक्ति काल के पश्चात् जीव को पुनः मनुष्य शरीर मिलता है । तब तक ये कर्म फल नहीं देते, यही नष्ट होने का अभिप्राय है ।

२. दूसरी गति - साथ मिलकर फल देना - अनेक स्थितियों में ईश्वर अच्छे व बुरे कर्मों का फल साथ-साथ भी देता है । अर्थात् अच्छे कर्मों का फल अच्छी जाति, आयु और भोग मिलता है, किन्तु साथ में कुछ अशुभ कर्मों का फल दुःख भी भुगा देता हैं । इसी प्रकार अशुभ का प्रधान रूप से निम्न स्तर की जाति आयु भोग रूप फल देता है, किन्तु साथ में कुछ शुभ कर्मों का फल सुख भी मिल जाता है । उदाहरण के लिए शुभ कर्मों का फल मनुष्य जन्म तो मिला, किन्तु अन्य अशुभ कर्मों के कारण उस शरीर को अंधा, लूला या कोढ़ी बना दिया । दूसरे पक्ष में प्रधानता से अशुभ कर्मों का फल गाय, कुत्ता आदि पशु योनि रूप में मिला, किन्तु कुछ शुभ कर्मों के कारण अच्छे देश में अच्छे घर में मिला, परिणाम स्वरूप सेवा, भोजन आदि अच्छे स्तर के मिले ।

३. तीसरी गति - कर्मों का दबे रहना - मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता है, उन सारे कर्मों का फल किसी एक ही योनि - शरीर में मिल जाए, यह संभव नहीं है । अतः जिन् कर्मों की प्रधानता होती है, उनके अनुसार अगला जन्म मिलता है । जिन कर्मों की अप्रधानता रहती है, वे कर्म पूर्व संचित कर्मों में जाकर जुड़ जाते हैं और तब तक फल नहीं देते, जब तक कि उन्हीं के सदृश, किसी मनुष्य शरीर में मुख्य कर्म न कर लिए जाएँ। इस तीसरी स्थिति को कर्मों का दबे रहना नाम से कहा जाता है ।

उदाहरण - किसी मनुष्य ने अपने जीवन में मनुष्य की जाति, आयु, भोग दिलाने वाले कर्मों के साथ-साथ कुछ कर्म सूअर की जाति, आयु, भोग दिलाने वाले भी कर दिए । प्रधानता-अधिकता के कारण अगले जन्म में मनुष्य शरीर मिलेगा और सूअर की योनि देने वाले कर्म तब तक दबे रहेंगे, जब तक कि सूअर की योनि देने वाले कर्मों की प्रधानता न हो जाए ।

उपर्युक्त विवरण का सार यह निकला कि इस जन्म में दुःखों से बचने तथा सुख को प्राप्त करने के लिए तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमें सदा शुभ कर्म ही करते रहना चाहिए और उनको भी निष्काम भावना से करना चाहिए ।

✤ ✤ ✤ ✤ ✤

मूल प्रकृति से ५ स्थूल भूतों तक की निर्माण प्रक्रिया
(१) सत्व, रज, तम, की साम्यावस्था = [प्रकृति]
(२) प्रथम कार्य (उतत्पन्न वस्तु) महत्तत्त्व (= बुद्धि)
(३) द्वितीय कार्य - उत्पन्न वस्तु [अहङ्कार]
(४) तृतीय कार्य वस्तुएँ- १६ तत्त्व
० = एक मन
००००० = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ
००००० = पाँच कर्मेन्द्रियाँ
००००० = पाँच तन्मात्राएँ
विशेष-परमाणु, तन्मात्र तथा स्थूल भूत के कण की बीच की अवस्था का नाम है।
(ये परमाणु आँखों से दिखाई नहीं देते)
अनेक शब्दतन्मात्र से आकाश का एक परमाणु बनता है।
अनेक रूपतन्मात्र से अग्निका एक परमाणु बनता है।
अनेक स्पर्शतन्मात्र से वायु का एक परमाणु बनता है।
अनेक रसतन्मात्र से जल का एक परमाणु बनता है।
अनेक गन्धतन्मात्र से पृथ्वीका एक परमाणु बनता है।
१.
सिद्धान्त (६० परमाणुओं के योग से एक अणु बनता है)
६० आकाश के परमाणुओं के योग से स्थूल आकाश का एक कण बनता है। (आकाश का अणु आँखों से दिखाई नहीं देता है)
२.
२ वायु के अणु मिलकर (द्वयणुक) स्थूल वायु का एक कण बनाते है। वायु के एक कण में १२० परमाणु होते हैं। (वायु का कण आँखों से नहीं दीखता है)
३.
२ अग्नि के द्वयणुक
१ वायु का द्वयणुक
ये तीन द्वयणुक मिलकर स्थूल अग्नि का एक कण बनाते हैं। अग्नि के एक कण में ३६० परमाणु होते हैं।
४.
२. जल के द्वयणुक
१. वायु का द्वयणुक
१. अग्नि का द्वयणुक
ये चारद्वयणुक मिलकर स्थूल जल का एक कण बनाते है। जल के एक कण में ४८० परमाणु होते हैं।
२ पृथ्वी केद्वयणुक
१ वायु काद्वयणुक
१ अग्नि काद्वयणुक
१ जल काद्वयणुक
ये पाँच द्वयणुक मिलकर स्थूल पृथ्वी का एक कण बनाते हैं। पृथ्वी के एक कण में ६०० परमाणु होते हैं।
आधार- सांख्य दर्शन, सत्यार्थ प्रकाश।
सं ज्ञानेश्वरार्य : दर्शनयोग महाविद्यालय (गुज.)
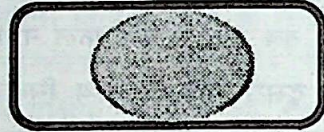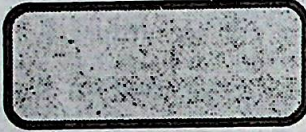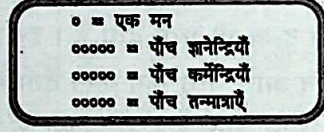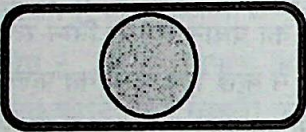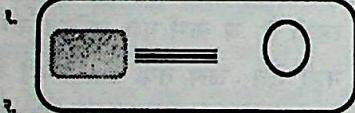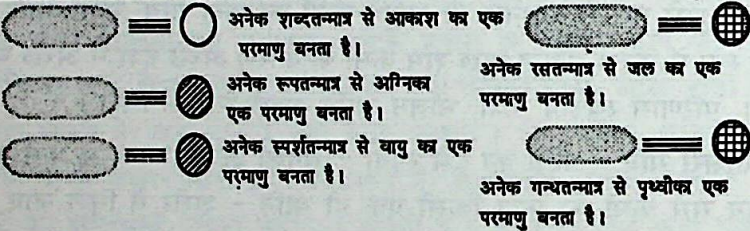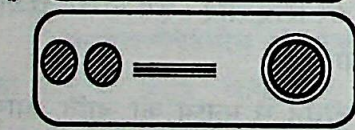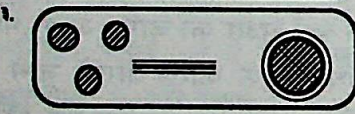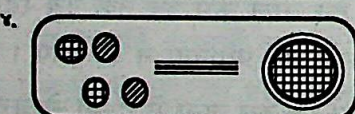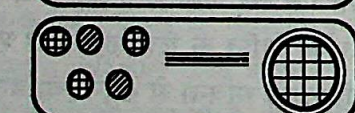
मूल प्रकृति से स्थूल भूतों तक की निर्माण प्रक्रिया

इस जगत् के निर्माण में मूलतः कौन से तत्त्व कारण हैं अथवा इस जगत् का निर्माण किन अविभाज्य सूक्ष्मतम घटकों से हुआ है ? इस पहेली को आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान अभी तक सुलझा नहीं सका है । एक समय था, जब आधुनिक भौतिक विज्ञान ९२ या १०२ या १०५ तत्वों (ELEMENTS) को इस जगत् का मूल कारण (अविभाज्य सूक्ष्मतम घटक) मानता था । फिर इस सिद्धांत को खंडित करके **इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्युट्रॉन** को मूल कारण माना जाने लगा । कुछ काल पश्चात् क्वार्क्स (Quarks) को सृष्टि का मूल कारण माना गया । अब क्वार्क्स का सिद्धांत अमान्य करके शक्ति (Energy) को सृष्टि का मूल कारण माना जा रहा है । यह मान्यता भी न जाने कब तक चलेगी, कुछ कह नहीं सकते ।

किन्तु वैदिक ऋषियों को वेदों के प्रमाण द्वारा बहुत पहले ही इस विषय का ज्ञान था कि इस जगत् के निर्माण में मूलतः तीन तत्त्व कारण है । ये तीन अविभाज्य सूक्ष्मतम घटक हैं : **सत्त्व, रज, तम** । इन तीनों का संम्मिलित नाम **' मूल प्रकृति '** दिया गया है । ये तीनों तत्त्व जड़ हैं अर्थात् ये सजीव (चेतन) या ज्ञानवान् नही हैं । ये तीनों **' नित्य '** भी हैं, अर्थात् न कभी उत्पन्न हुए और न कभी नष्ट होंगे ।

ईश्वरं विभिन्न अनुपात में किए संयोगों द्वारा इन तीनों कणों (मूल प्रकृति) से ही ५ स्थूल भूतों तक की सृष्टि का निर्माण करता है । फिर इन ५ स्थूल भूतों से यह दृश्य जगत् अर्थात् संपूर्ण ब्रह्माण्ड, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वृक्ष-वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-पक्षी व मनुष्यों के शरीर आदि को बनाता है । जब प्रलय करनी होती है तब इस दृश्य जगत् को निर्माण के विपरीत क्रम से विखंडित करता हुआ **सत्त्व-रज-तम** (मूल प्रकृति) के रूप तक बदल देता है । इस पत्रक में मूल प्रकृति से ५ स्थूल भूतों तक की निर्माण प्रक्रिया को दर्शाया गया है ।

महर्षि कपिल के अनुसार ईश्वर सर्वप्रथम मूल प्रकृति के सूक्ष्मतम तत्त्वों **(सत्त्व-रज-तम)** को एकत्रित करता है । इससे जो वस्तु (कार्य द्रव्य) बनती

है उसका नाम **महत्तत्त्व** (बुद्धि तत्त्व) है । महत्तत्त्व के साथ कुछ और मूल तत्त्वों (सत्त्व-रज-तम) को भिन्न अनुपात में मिलाने पर अहंकार नामक वस्तु बनती है, जो कि महत्तत्त्व की अपेक्षा कुछ स्थूल होती है । **अहंकार** में मूल-प्रकृति (सत्त्व-रज-तम) के कुछ और कणों को भिन्न-भिन्न अनुपात में मिलाने से ईश्वर १६ प्रकार की वस्तुएँ बनाता है । ये **५ ज्ञानेन्द्रियाँ** (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा), **५ कर्मेन्द्रियाँ** (हाथ, पैर, वाणी, पायु = मूलेन्द्रिय, उपस्थ = मूत्रेन्द्रिय), **१ मन** तथा **५ तन्मात्राएँ** (शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र, गन्ध तन्मात्र) ये १६ वस्तुएँ अहंकार की अपेक्षा स्थूल होती हैं । इनमें पहली ११ वस्तुओं (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, १ मन) से किसी अन्य नवीन वस्तु का निर्माण नहीं होता, जबकि शेष ५ वस्तुओं (५ तन्मात्राओं) से आगे की अन्य वस्तुओं का निर्माण होता है ।

शब्द तन्मात्र आदि ५ तन्मात्राओं के अनेक कण पृथक्-पृथक् मिलने से जिस नई वस्तु का निर्माण होता है, उसे शास्त्र में '**परमाणु**' कहा गया है । ये पाँच प्रकार के होते हैं । 'शब्द तन्मात्र' से आकाश का परमाणु, 'स्पर्श तन्मात्र' से वायु का परमाणु, 'रूप तन्मात्र' से अग्नि का, 'रस तन्मात्र' से जल का व 'गन्ध तन्मात्र' से पृथ्वी का परमाणु बनता है । तन्मात्राओं की अपेक्षा ये परमाणु स्थूल होते हैं, किन्तु आँखों से दिखाई नहीं देते हैं ।

परमाणु से आगे की रचना है, '**अणु**' । ये भी ५ प्रकार के होते हैं । ६०-६० समान परमाणुओं के मिलने से एक-एक अणु बनता है । जैसे ६० आकाश परमाणुओं से एक आकाश-अणु, ६० वायु परमाणुओं से एक वायु अणु । इसी प्रकार अग्नि, जल व प्रथ्वी के ६०-६० परमाणुओं से उनका एक-एक अणु बनता है । 'आकाश अणु' ही 'आकाश स्थूल भूत' की मूल इकाई है । जबकि अन्य वायु आदि अणु अपने-अपने वायु आदि स्थूल भूतों की मूल इकाई है । जबकि अन्य वायु आदि अणु अपने-अपने वायु आदि स्थूल भूतों की मूल इकाई नहीं हैं ।

दो अणुओं के मिलने से जो वस्तु बनती है, उसे द्व्यणुक कहा गया है । द्व्यणुक आकाश को छोड़कर शेष चार पदार्थों (वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी) में ही होते हैं । दो वायु अणुओं से एक '**वायु-द्व्यणुक**' दो अग्नि अणुओं से एक '**अग्नि-द्व्यणुक**' इसी प्रकार '**जल द्व्यणुक**' व

' **पृथ्वी-द्व्यणुक** ' का भी निर्माण होता है । प्रत्येक द्व्यणुक में १२० ' **परमाणु** ' होते हैं । ' **वायु द्व्यणुक** ' ही ' **वायु स्थूल भूत** ' की मूल इकाई है । अर्थात् वायु नामक स्थूल भूत के एक-एक कण में १२० परमाणु होते हैं । अग्नि स्थूल भूत की मूल इकाई, २ 'अग्नि द्व्यणुक' व १ ' वायु द्व्यणुक ' (कुल ३ द्व्यणुक) के मिलने से बनती है । अर्थात् ' **अग्नि** ' नामक स्थूल भूत के एक कण में ३६० परमाणु होते हैं । ' जल स्थूल भूत ' की मूल इकाई में २ जल द्व्यणुक, १ अग्नि द्व्यणुक, १ वायु द्व्यणुक (कुल ४ द्व्यणुक) होते हैं । अर्थात् ' जल ' नामक स्थूल भूत के एक कण में ४८० परमाणु होते हैं तथा ' पृथ्वी स्थूल भूत ' की मूल इकाई में २ ' पृथ्वी द्व्यणुक ', १ 'जल द्व्यणुक' १ ' अग्नि द्व्यणुक ' व १ ' वायु द्व्यणुक ' (कुल ५ द्व्यणुक) होते हैं । अर्थात् ' **पृथ्वी** ' नामक स्थूल भूत के १ कण में ६०० परमाणु होते हैं ।

इस प्रकार बने ५ स्थूल भूतों में पूर्व वाले की अपेक्षा बाद वाले में उत्तरोत्तर स्थूलता बढ़ती जाती है । ईश्वर ने इन ५ स्थूल भूतों के विभिन्न अनुपात में किए गए मिश्रण से ही यह जगत् बनाया है ।

इस लेख में मूल प्रकृति से ५ स्थूल भूतों तक की निर्माण प्रक्रिया का वर्णन सांख्य दर्शन व सत्यार्थ प्रकाश के आधार पर प्रस्तुत किया है ।

ओ३म्

प्राणों के नाम, स्थान और कार्य-विवरण

उपप्राणों के नाम

↓ उपप्राणों का स्थान

(१) कूर्म - नेत्र
(२) देवदत्त - नासिका से कण्ठ
(३) नाग - कण्ठ से मुख
(४) कृकल - मुख से हृदय
(५) धनञ्जय - सम्पूर्ण शरीर

मुख्य प्राणों के नाम

↓ मुख्य प्राणों का स्थान

(१) उदान - कण्ठ से सिर
(२) प्राण - नासिका से हृदय
(३) समान - हृदय से नाभि
(४) अपान - नाभि से पाँव
(५) व्यान - सम्पूर्ण शरीर

उपप्राणों का कार्य

नाग - उद्गार (डकार) हिचकी
कूर्म - नेत्रों का खोलना तथा बन्द करना
कृकल - जृम्भण (उबासी) भूख प्यास को उत्पन्न करना
देवदत्त - छींक, तन्द्रा, आलस्य निद्रा आदि
धनञ्जय - माँस पेशियों को सुन्दर बनाये रखना, शरीर को खींचे रखना,
[मरने पर शरीर इसके अभाव में फूल जाता है।]

मुख्य प्राणों का कार्य

प्राण - श्वास-प्रश्वास
अपान - मल, मूत्र, रज, वीर्य, गर्भ को बाहर निकालना
समान - भोजन को पचाना रस से रक्त, रक्त से माँस....
उदान - शब्दोच्चारण, वमन
व्यान - रक्त संचार, प्राण संचार, काँटे की अनुभूति अन्य प्राणों को सहयोग देना।

संपादक - ज्ञानेश्वरार्य
दर्शन योग महाविद्यालय, आर्य वन, रोजड़, सागपुर, (साबरकांठा) गुजरात-३८३३०७.

प्राणों के नाम, स्थान तथा कार्य

हमारा शरीर जिस तत्त्व के कारण जीवित है, उसका नाम ' **प्राण** ' है । शरीर में हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अन्य सब अवयव, अङ्ग इस प्राण से ही शक्ति पाकर समस्त कार्यों का सम्पादन करते हैं ।

प्राण से ही भोजन का पाचन, रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, रज, ओज आदि धातुओं का निर्माण, फल्गु (व्यर्थ) पदार्थों का शरीर से बाहर निकलना, उठना, बैठना, चलना, बोलना, चिंतन-मनन-स्मरण-ध्यान आदि समस्त स्थूल व सूक्ष्म क्रियाएँ होती हैं । प्राण की न्यूनता-निर्बलता होने पर शरीर के अवयव (अङ्ग-प्रत्यङ्ग-इन्द्रियाँ आदि) शिथिल व रुग्ण हो जाते हैं । प्राण के बलवान् होने पर समस्त शरीर के अवयवों में बल, पराक्रम आते हैं और पुरुषार्थ, साहस, उत्साह, धैर्य, आशा, प्रसन्नता, तप, क्षमा आदि की प्रवृत्ति होती है ।

शरीर के बलवान्, पुष्ट, सुगठित, सुंदर, लावण्ययुक्त, निरोग व दीर्घायु होने पर ही लौकिक व आध्यात्मिक लक्ष्यों की पूर्ति हो सकती है । इसलिए हमें प्राणों की रक्षा करनी चाहिए अर्थात् शुद्ध आहार, प्रगाढ़ निद्रा, ब्रह्मचर्य, प्राणायाम आदि के माध्यम से शरीर को प्राणवान् बनाना चाहिए ।

परमपिता परमात्मा द्वारा निर्मित १६ कलाओं में एक कला प्राण भी है । ईश्वर इस प्राण को जीवात्मा के उपयोग के लिए प्रदान करता है । ज्यों ही जीवात्मा किसी शरीर में प्रवेश करता है, प्राण भी उसके साथ शरीर में प्रवेश कर जाता है तथा ज्यों ही किसी शरीर से निकलता है, प्राण भी उसके साथ निकल जाता है ।

विभाग

प्रस्तुत चित्र में प्राणों के विभाग, नाम, स्थान तथा कार्यों का वर्णन किया गया है । मुख्य प्राण ५ बताए गए हैं - प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान । उपप्राण भी पाँच बताए गए हैं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ।

मुख्य प्राण

१. प्राण – इसका स्थान नासिका से हृदय तक है। नेत्र, नासिका, श्रोत्र, मुख आदि अवयव इसी के सहयोग से कार्य करते हैं। यह सभी प्राणों का राजा है। जैसे राजा अपने अधिकारियों को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त करता है, वैसे ही यह भी अन्य अपान आदि प्राणों को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त करता है।

२. अपान – इसका स्थान नाभि से पाँव तक है। यह गुदा इन्द्रिय द्वारा मल व वायु को, उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) द्वारा मूत्र व वीर्य को तथा योनि द्वारा रज व गर्भ को शरीर से बाहर निकालने का कार्य करता है।

३. समान – इसका स्थान हृदय से नाभि तक बताया गया है। यह खाए हुए अन्न को पचाने तथा पचे हुए अन्न से रस, रक्त आदि धातुओं को बनाने का कार्य करता है।

४. उदान – यह कण्ठ से सिर (मस्तिष्क) तक के अवयवों में रहता है। शब्दो का उच्चारण, वमन (उल्टी) को निकालना आदि कार्यों के अतिरिक्त यह अच्छे कर्म करने वाली जीवात्मा को अच्छे लोक (उत्तम योनि) में, बुरे कर्म करने वाली जीवात्मा को बुरे लोक (अर्थात् सूअर, कुत्ते आदि की योनि) में तथा जिस आत्मा ने पाप-पुण्य बराबर किए हों, उसे मनुष्य लोक (मानव योनि) में ले जाता है।

५. व्यान – यह सम्पूर्ण शरीर में रहता है। हृदय से मुख्य १०१ नाडियाँ निकलती हैं, प्रत्येक नाड़ी की १००-१०० शाखाएँ हैं तथा प्रत्येक शाखा की भी ७२००० उपशाखाएँ हैं। इस प्रकार कुल ७२७२१०२०१ नाड़ी शाखा-उपशाखाओं में यह रहता है। समस्त शरीर में रक्त-संचार, प्राण-संचार का कार्य यही करता है तथा अन्य प्राणों को उनके कार्यों में सहयोग भी देता है।

उपप्राण

१. नाग – यह कण्ठ से मुख तक रहता है। उद्गार (डकार), हिचकी आदि कर्म इसी के द्वारा होते हैं।

२. कूर्म – इसका स्थान मुख्य रूप से नेत्र गोलक है। यह नेत्र गोलकों में रहता हुआ उन्हें दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे घुमाने की तथा पलकों को खोलने-बंद

करने की क्रिया करता है। आँसू भी इसी के सहयोग से निकलते हैं।

३. कृकल - यह मुख से हृदय तक के स्थान में रहता है तथा जृम्भा (जंभाई=उबासी), भूख, प्यास आदि को उत्पन्न करने का कार्य करता है।

४. देवदत्त - यह नासिका से कण्ठ तक के स्थान में रहता है। इसका कार्य छींक, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा आदि को लाने का है।

५. धनञ्जय - यह सम्पूर्ण शरीर में व्यापक रहता है। इसका कार्य शरीर के अवयवों को खींचे रखना, माँसपेशियों को सुंदर बनाना आदि है। शरीर में से जीवात्मा के निकल जाने पर यह भी बाहर निकल जाता है, फलतः इस प्राण के अभाव में शरीर फूल जाता है।

वितर्का हिंसादय : कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥

योगदर्शन–२–३४

– महर्षि पतञ्जलिरचित –

योगदर्शन के अनुसार हिंसा के ८१ विभाग

संपादक – ज्ञानेश्वरार्य
दर्शन योग महाविद्यालय,
आर्य वन, रोजड़,
सागपुर, (साबरकांठा)
गुजरात–३८३३०७
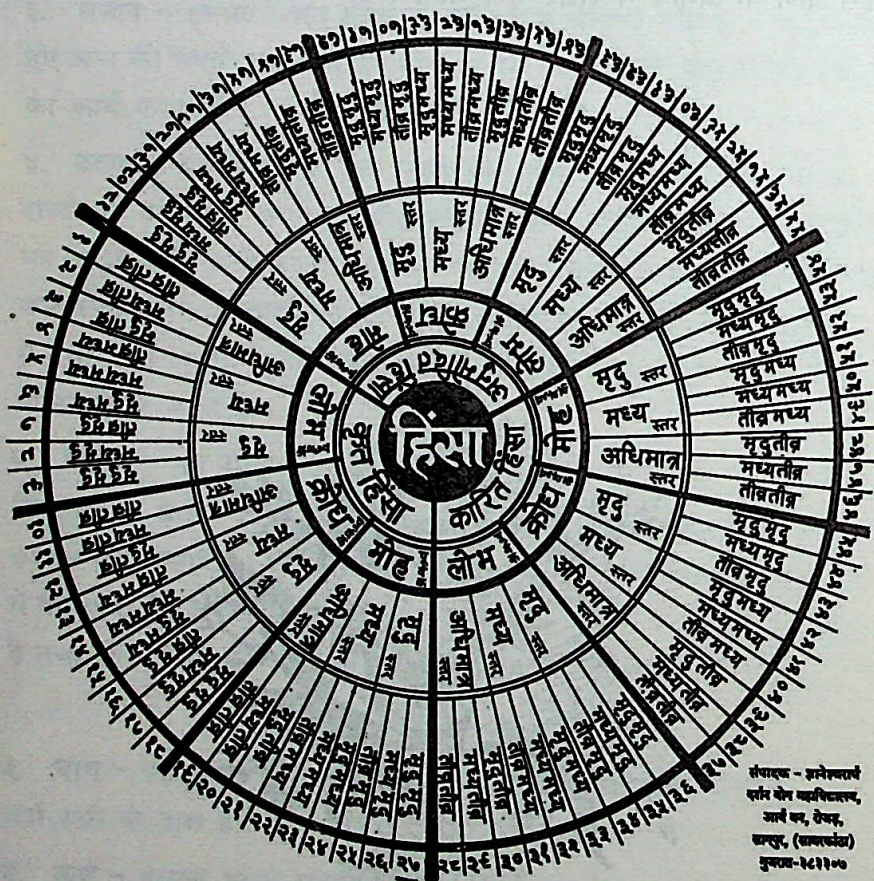
हिंसा का स्वरूप एवं विभाग

ईश्वर प्राप्ति के इच्छुक योगाभ्यासी के लिए व्यवहार में अहिंसा का पालन करना सर्वोपरि तथा अनिवार्य बताया गया है । जब तक मनुष्य हिंसा के स्वरूप को अच्छी प्रकार से नहीं जान लेता, तब तक हिंसा को छोड़कर अहिंसा का पालन नहीं कर सकता । अतः हिंसा के स्वरूप को विभाग सहित अच्छी प्रकार जान लेना चाहिए । महर्षि पतञ्जलि जी ने अपने अद्वितीय ग्रंथ ' **योग दर्शन** ' में तथा महर्षि व्यास जी ने इसी योग दर्शन के भाष्य में हिंसा के स्वरूप व विभाग का जैसा वर्णन किया है, उसे इस लेख में दर्शाया गया है ।

मन, वाणी व शरीर से सर्वदा-सर्वथा सभी प्राणियों के प्रति वैर-भाव छोड़कर, प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना ' **अहिंसा** ' है और मन, वाणी व शरीर से अन्याय पूर्वक प्राणियों को दुःख देना, दुःख देने का प्रयास करना या वैर-भाव रखना ' **हिंसा** ' कहलाती है । " **किसी प्राणी को दुःख देना** " या " **दुःखी हो जाना** " मात्र हिंसा की परिभाषा नहीं है । यदि दोषी व्यक्ति को न्यायपूर्वक उसके सुधार व कल्याण के लिए अधिकारी व्यक्ति द्वारा प्रीतिपूर्वक दण्ड दिया जाए और उस दण्ड से दोषी व्यक्ति को दुःख हो तो ऐसा दुःख देना हिंसा के अन्तर्गत नहीं आएगा जैसे-ईश्वर, न्यायकारी राजा, न्यायाधीश, योग्य गुरु व धार्मिक माता-पिता द्वारा दिया गया उचित दण्ड । इसके साथ यह मान्यता भी पूर्ण ठीक नहीं है कि ' दोषी व्यक्ति को दण्ड देना हिंसा में नहीं आता ' । यदि दोषी व्यक्ति को अन्यायपूर्वक, अनुचित (न्यून या अधिक) उसके अहित के लिए, वैर भाव पूर्वक, अनधिकारी व्यक्ति द्वारा दण्ड दिया जाय, तो वह भी हिंसा में आ जाता है । जैसे अन्यायकारी राजा, न्यायाधीश, अयोग्य गुरु, माता-पिता द्वारा दिया गया अनुचित दण्ड ।

शरीर से किसी भी प्राणी को अन्याय व वैरभावपूर्वक दुःख पहुँचाना ' **शारीरिक हिंसा** ' कहलाती है, जैसे किसी को पीटना, हाथ-पाँव तोड़ देना, जान से मार देना इत्यादि । जब किसी प्राणी को अन्याय व वैरभावपूर्वक, वाणी से दुःख पहुँचाया जाता है, तो वह ' **वाचिक हिंसा** ' कहलाती है, जैसे कठोर बोलना, झूठा आरोप लगाना, अपमानजनक बोलना इत्यादि । जब

किसी प्राणी के प्रति मन में द्वेष भावना रखी जाए, उसे मारने या हानि पहुँचाने की योजना बनाई जाए, तो वह ' **मानसिक हिंसा** ' कहलाती है ।

प्रस्तुत चित्र में हिंसा के ८१ भेद व उपभेद किए गए हैं । प्रथम भेद तीन प्रकार का है - १. कृत हिंसा, २. कारित हिंसा, ३. अनुमोदित हिंसा । जब मनुष्य स्वयं हिंसा करता है, तब वह ' **कृतहिंसा** ' कहलाती है । जब स्वयं हिंसा न करके आदेश, प्रेरणा, भय, प्रलोभन आदि के माध्यम से दूसरे व्यक्ति के द्वारा हिंसा करवाता है, तो वह ' **कारित हिंसा** ' कहलाती है और जब किसी हिंसक व्यक्ति या हिंसा क्रिया का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से समर्थन किया जाता है, उसे अच्छा समझा जाता है, तो वह ' **अनुमोदित हिंसा** ' कहलाती है । अनुमोदित हिंसा की अपेक्षा कारित-हिंसा और कारित हिंसा की अपेक्षा कृत-हिंसा अधिक दोषयुक्त होती है ।

कृत, कारित व अनुमोदित इन तीन प्रकार की हिंसा में प्रत्येक के तीन-तीन भेद और होते हैं - १. लोभपूर्वक २. क्रोधपूर्वक ३. मोहपूर्वक । ऐसी हिंसा जिसके पीछे धन, सम्पत्ति यश, सुख आदि की प्राप्ति का लोभ कारण रूप में विद्यमान हो, उसे ' **लोभ पूर्वक हिंसा** ' कहते हैं । जैसे अधिक व शीघ्र धन कमाने के लिए कम तोलना, मिलावट करना, चोरी करना, शोषण करना, माँस-चमड़े की प्राप्ति के लिए पशु वध करना, अपने यश को बढ़ाने के लिए प्रतिद्वन्द्वियों पर झूठे आरोप लगाना, झूठी गवाही देना, छल-कपट का व्यवहार करना आदि । ये सभी उदाहरण ' **लोभ पूर्वक हिंसा** ' के हैं ।

ऐसी हिंसा जिसके पीछे क्रोध कारण रूप में विद्यमान हो, उसे ' **क्रोध पूर्वक हिंसा** ' कहते हैं । इसने मेरा अपमान किया है, आज्ञा नहीं मानी, विरोध किया है, सहयोग नहीं किया, मेरी निन्दा की है, हानि की है, इस प्रकार का विचार करके, क्रोध में बदले की भावना उठाकर, किसी व्यक्ति को कठोर दण्ड देना, अधिक दण्ड देना, हानि पहुँचाना, अन्याय करना, अपमानित करना इत्यादि ' **क्रोध पूर्वक हिंसा** ' के उदाहरण हैं ।

ऐसी हिंसा जिसके पीछे मोह (=अज्ञान=भ्रम) कारण रूप में विद्यमान हो, उसे ' **मोहपूर्वक हिंसा** ' कहते हैं । जैसे मंदिर में पशु बलि चढ़ाने से देवी-देवता प्रसन्न हो जाएँगे, ईश्वर का दर्शन हो जाएगा, पुण्य मिलेगा, पुत्र हो जाएगा, रोग दूर हो जाएगा, मुकदमा जीत जाऊँगा, कोई सिद्धि प्राप्त कर लूँगा, इस प्रकार विचार करके नर बलि या पशु बलि चढ़ाना इत्यादि, क्योंकि

ऐसा व्यक्ति मोह (=अज्ञान=भ्रम) के कारण हिंसा करता है, अतः इसे **' मोहपूर्वक हिंसा '** कहते हैं। मोह-अज्ञान के कारण ही मनुष्य अधर्म को धर्म, अन्याय को न्याय, पाप को पुण्य, असत्य को सत्य, अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य मानकर अनिष्ट कार्य करता रहता है, जिससे अन्यों को पीड़ा (हानि) पहुँचती रहती है, यह सब **' मोहपूर्वक हिंसा '** के अन्तर्गत ही आते हैं।

लोभ, क्रोध व मोहपूर्वक की गई हिंसा में पुनः प्रत्येक के तीन-तीन भेद किए गए हैं - १. मृदु २. मध्य ३. अधिमात्र। लोभ, क्रोध, मोह की मात्रा कम होने के कारण जब हिंसा भी कम मात्रा में की जाती है, तो उसे मृदु स्तर की हिंसा कहते हैं। इसी प्रकार लोभ, क्रोध आदि के मध्य स्तर व अधिक स्तर होने से हिंसा भी मध्य स्तर व अधिमात्र स्तर की होती है।

इन मृदु, मध्य, अधिमात्र स्तर की हिंसा में भी प्रत्येक के पुनः तीन-तीन भेद किए गए हैं। यथा मृदुस्तर की हिंसा के तीन भेद - १. मृदु-मृदु २. मध्य मृदु ३. तीव्र मृदु। मृदु स्तर की हिंसा की सीमा में सबसे कम हिंसा का होना ' मृदु-मृदु ' प्रकार की हिंसा है। ' मृदु-मृदु ' हिंसा से कुछ अधिक हिंसा को ' मध्य मृदु ' हिंसा कहते हैं तथा मृदु स्तर की ही सीमा में सबसे अधिक हिंसा का होना ' तीव्र मृदु ' प्रकार की हिंसा है। यह ' तीव्र मृदु ' हिंसा ' मध्य स्तर ' की हिंसा की निम्नतम सीमा से कुछ कम होती है तथा ' मध्य मृदु ' हिंसा से कुछ अधिक होती है। इसी तरह से ' मध्य स्तर ' व ' अधिमात्र स्तर ' की हिंसा के भी तीन-तीन भेद होते हैं।

इसके उदाहरण निम्न प्रकार से हो सकते हैं - १. किसी के कान पकडना २. थप्पड़ मारना ३. धक्का देना ४. डंडा मारना ५. लात घूँसे मारना ६. लाठी से पीटना ७. हाथ-पाँव तोड़ देना ८. हाथ-पाँव काट देना ९. जान से मार देना।

इस प्रकार **कृत, कारित** व **अनुमोदित** इन तीन हिंसाओं के २७-२७ भेद होने से कुल ८१ भेद हिंसा के बन जाते हैं। चित्र में संख्या सहित स्पष्टीकरण किया गया है। इसी प्रकार असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य व परिग्रह के भी **८१-८१** भेद होते हैं।

✤ ✤ ✤ ✤ ✤

वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय
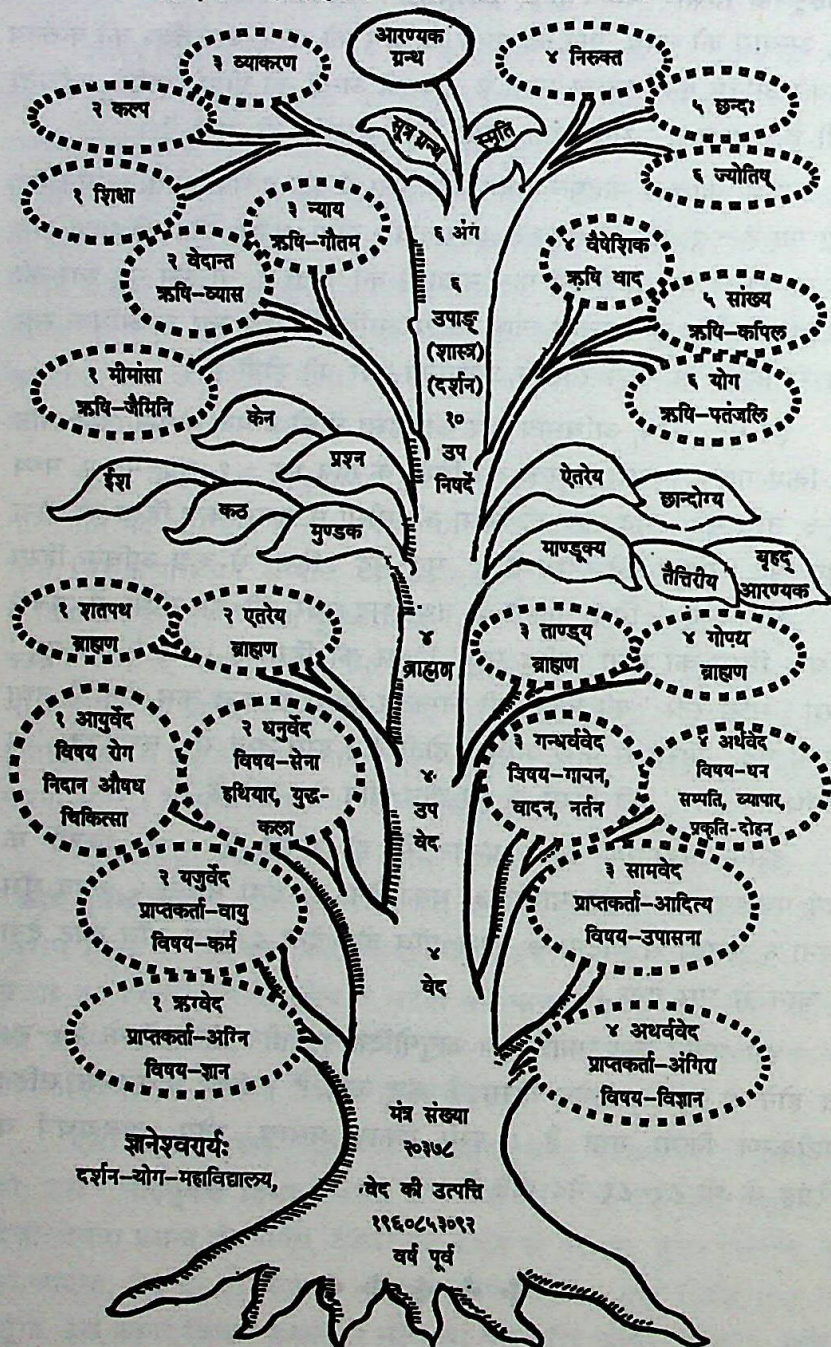
वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

विश्व के पुस्तकालयों में सबसे प्राचीन ग्रंथ **वेद** हैं। वैदिक परम्परा के अनुसार आज से लगभग १ अरब ९६ करोड़, ८ लाख, ५३ हजार वर्ष पूर्व, जब इस पृथ्वी पर मनुष्य की सर्वप्रथम उत्पत्ति हुई तब ईश्वर ने चार ऋषियों **अग्नि, वायु, आदित्य** और **अंगिरा** को क्रमशः **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** तथा **अथर्ववेद** का ज्ञान प्रदान किया। इन्हीं ऋषियों ने अन्य मनुष्यों को इन वेदों का ज्ञान दिया और तब से आज तक गुरु परम्परा से इन वेदों का आदान-प्रदान चलता चला आ रहा है। बहुत लम्बे काल तक वेद श्रवण द्वारा ही ग्रहण किए जाते रहे इस कारण इनका एक नाम **श्रुति** भी है; बाद में इन्हें पुस्तक रूप में भी लिख लिया गया।

ऋग्वेद का मुख्य विषय **पदार्थज्ञान** है। अर्थात् इसमें मुख्य रूप से संसार में विद्यमान पदार्थों का स्वरूप बताया गया है। यजुर्वेद में **कर्मों** के अनुष्ठान को, सामवेद में ईश्वर की **भक्ति उपासना** के स्वरूप को तथा अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के **विज्ञान** को मुख्य रूप से बताया गया है। ऋग्वेद के मंत्रो की संख्या १०५५२, यजुर्वेद की १९७५, सामवेद की १८७५ तथा अथर्ववेद की ५९७७ है, चारों वेदों में कुल २०३७९ मंत्र हैं।

इन वेदों का एक-एक उपवेद भी है। ऋग्वेद के उपवेद का नाम '**आयुर्वेद**' है, जिसमें स्वास्थ्य, स्वस्थ रहने के उपाय, रोग, रोगों के कारण, औषधियों तथा चिकित्सा का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है। यजुर्वेद के उपवेद का नाम '**धनुर्वेद**' है, जिसमें सेना, हथियार, युद्ध कला के विषय का वर्णन है। सामवेद के उपवेद का नाम '**गन्धर्ववेद**' है, जिसमें गायन, वादन, नर्तन आदि विषयों का वर्णन किया गया है और अथर्ववेद के उपवेद का नाम '**अर्थवेद**' है, जिसमें व्यापार, अर्थव्यवस्था आदि विषयों का वर्णन है।

ऋषियों ने वेदों के भाष्य (व्याख्या) रूप में सर्वप्रथम जिन ग्रंथो की रचना की उन ग्रंथो को '**ब्राह्मण ग्रंथ**' कहते हैं, जो ऋग्वेद का **ऐतरेय,** यजुर्वेद का **शतपथ**, सामवेद का **ताण्ड्य** तथा अथर्ववेद का **गोपथ** नाम से प्रसिद्ध है। जिन ग्रंथों में ऋषियों ने वेदों में वर्णित ब्रह्मविद्या से संबंधित आध्यात्मिक तत्त्वों यथा ब्रह्म, जीव, मन, संस्कार, जप, स्वाध्याय, तपस्या, ध्यान, समाधि आदि विषयों का आलंकारिक कथाओं के साथ सरल रूप से वर्णन किया है, उनका नाम

'**उपनिषद्**' हैं। इन उपनिषदों में ईशोपनिषद् आदि १० उपनिषदें प्रमुख हैं।

ऋषियों ने जिन ग्रंथों में वेदों के दार्शनिक तत्त्वों की विस्तार से एवं शंका समाधानपूर्वक विवेचना की है, उनका नाम **उपाङ्ग** या **दर्शन शास्त्र** हैं। ये संख्या में ६ हैं, जिनके नाम मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग हैं। जैमिनी ऋषिकृत मीमांसा-दर्शन में धर्म, कर्म, यज्ञादि का वर्णन है; जबकि व्यास ऋषि कृत वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म (ईश्वर) का, गौतम ऋषि कृत न्याय-दर्शन में तर्क, प्रमाण, व्यवहार व मुक्ति का; कणाद ऋषिकृत वैशेषिक-दर्शन में ज्ञान-विज्ञान का, कपिल ऋषिकृत सांख्य-दर्शन में प्रकृति, पुरुष (=ईश्वर व जीव) का तथा ऋषि पतञ्जलिरचित योग-दर्शन में योग-साधना, ध्यान, समाधि आदि विषयों का वर्णन है।

वेद मंत्रों के गंभीर व सूक्ष्म अर्थों को स्पष्टता से समझने के लिए ऋषियों ने ६ अंगों की रचना की, जिन्हें '**वेदाङ्ग**' कहा जाता है। ये हैं शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। शिक्षाग्रंथ में संस्कृत भाषा के अक्षरों का वर्णन उनकी संख्या, प्रकार, उच्चारण-स्थान-प्रयत्न आदि के उल्लेख सहित किया गया है। कल्प ग्रंथ में व्यवहार, सुनीति, धर्माचार आदि बातों का वर्णन है। व्याकरण ग्रंथ में शब्दों की रचना, धातु, प्रत्यय तथा कौन-सा-शब्द किन-किन अर्थों में प्रयुक्त होता है इन बातों का उल्लेख है। वेद मंत्रो के शब्दों का अर्थ किस विधि से किया जाए, इसका निर्देश निरुक्त ग्रंथ में किया है। छन्द ग्रंथ में श्लोकों की रचना तथा गान कला का वर्णन किया है तथा ज्योतिष ग्रंथ में गणित आदि विद्याओं तथा भूगोल-खगोल की स्थिति-गति का वर्णन है।

इनके अतिरिक्त वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ऋषियों ने **स्मृतिग्रंथ, आरण्यक, सूत्रग्रंथ** आदि भी बनाए थे। ऋषियों ने इन ग्रंथों की रचना मानव मात्र को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध कराने के लिए की थी। इन में पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक नियमों का विधान है। समय-समय पर इनमें मिलावट होती रही है, वर्तमान में उपलब्ध '**मनुस्मृति**' में भी अनेकत्र मिलावट है, जिसे वैदिक विद्वानों ने ढूँढकर पृथक् भी किया है।

वैदिक धर्म से संबंधित आरण्यक, प्रातिशाख्य, सूत्र ग्रंथ, पुराण, महाभारत आदि अनेक अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध हैं, किन्तु वे मिलावट आदि अनेक प्रकार के दोषों से युक्त होने के कारण पूर्ण प्रामाणिक नहीं हैं।

* * * * *

प्रवाह से अनादि संसार चक्र

इस चित्र में संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के वर्णन को क्रम से बताया गया है। वैदिक परम्परा के अनुसार आज (ई.सन् ११९७) से लगभग १ अरब, ९६ करोड़, ८ लाख, ५३ हजार ९७ वर्ष पूर्व यह संसार बना था। इस संसार का उपादान कारण (Material Cause) '**मूल प्रकृति**' है, जो सत्त्व, रज, तम नामक तीन सूक्ष्म पदार्थों (=परमाणुओं) की साम्यावस्था का नाम है।

ईश्वर इन तीन सूक्ष्म पदार्थों (तत्त्वों) को लेकर महत्तत्व (=बुद्धि तत्त्व) नामक पदार्थ बनाता है। इस महत्तत्व के सहयोग से जीवात्मा निर्णय लेने का कार्य करता है। फिर इस महत्तत्व से ईश्वर 'अहंकार' नामक पदार्थ का निर्माण करता है। अहंकार के द्वारा ही जीवात्मा स्वयं की अनुभूति करता है, कि '**मैं एक चेतन जीव हूँ**'।

इस अहंकार से ईश्वर ने ५ ज्ञानेन्द्रियाँ (नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक्), ५ कर्मेन्द्रियाँ (हस्त, पाद, वाणी, उपस्थ = मूत्रेन्द्रिय, पायु = मल त्यागने वाली इन्द्रिय), १ मन, ५ तन्मात्राएँ (शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र, गन्ध तन्मात्र) इस प्रकार कुल १६ पदार्थ बनाए। फिर ५ तन्मात्राओं (सूक्ष्म भूतों) से ५ स्थूल भूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) का निर्माण किया और इन ५ स्थूल भूतों के संयोग से पृथ्वी, चन्द्र, सूर्यादि विशाल ग्रह-उपग्रह, नक्षत्रों की रचना की जो हम जीवों के जीवन के आधार हैं।

सजीव सृष्टि के रूप में पृथ्वी पर सर्वप्रथम वृक्ष-वनस्पतियों को बनाया, फिर जल-थल-नभ में विचरण करने वाले कृमि-कीट-पतंग, पक्षी-पशु आदि का निर्माण किया। सृष्टि में उत्पन्न प्रथम पशु-पक्षी, मनुष्यों आदि की उत्पत्ति ईश्वर स्वयं पृथ्वी में विभिन्न गर्भों की रचना करके करता है। माता-पिता के संयोग के बिना उत्पन्न होने से इन्हें '**अमैथुनी सृष्टि**' कहा जाता है। अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न पशु-पक्षी, मनुष्य आदि बच्चों के रूप में पैदा न होकर युवा ही पैदा होते हैं, तथा ये संख्या में भी सैकड़ों-हजारों होते हैं। अमैथुनी सृष्टि के युवा माता-पिताओं के संयोग से आगे नई सृष्टि का निर्माण होता है, इसे '**मैथुनी सृष्टि**' कहते हैं।

प्रवाह से अनादि संसार चक्र

संपादक - ज्ञानेश्वरार्य
दर्शन योग महाविद्यालय,
आर्य वन, रोजड़,
सागपुर, (साबरकांठा) गुजरात.
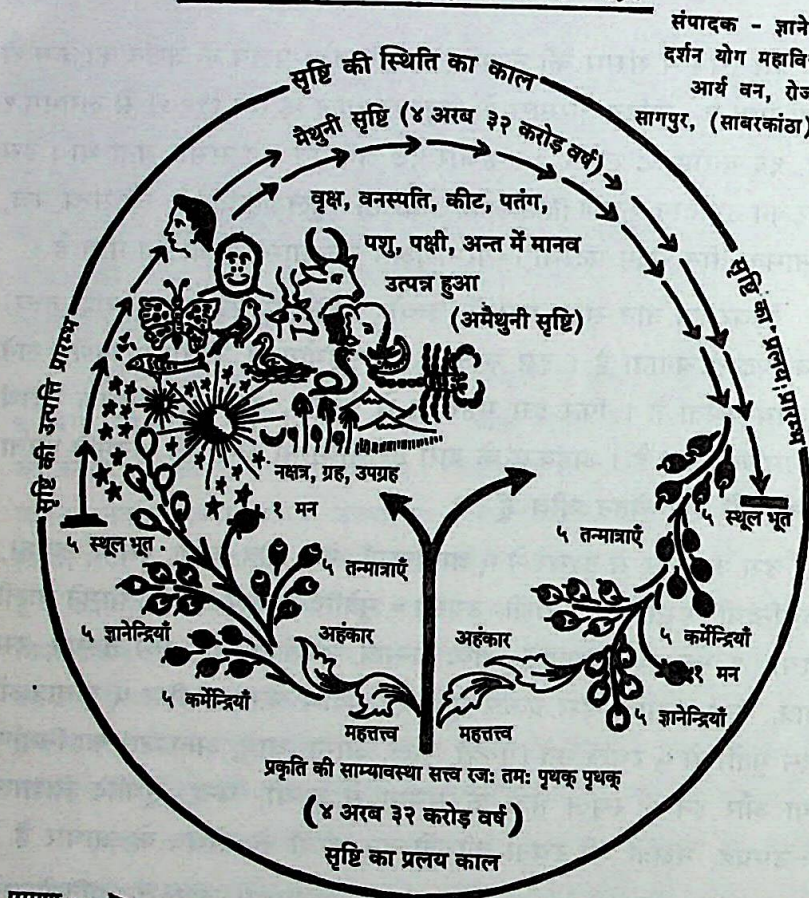
प्रमाण ⟶

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मा-त्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः"

[सांख्यदर्शन-१-६१]

प्रमाण ⟶

ओ३म् शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राणी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यत्तां हृणीयमानाः ॥

[अथर्ववेद ८-२-२१]

अयुत = १०,००० (दस हजार) सैकड़े पर २, ३, ४ लिखने पर कल्पकाल ४,३२,००,००,००० वर्ष निकलता है। [संवत् २०४७ का १० वाँ - कालचक्र पृ.-२]

यह संसार (कार्य प्रकृति) ४ अरब, ३२ करोड़ वर्ष तक बना रहता है, इसे सृष्टि का स्थिति काल (कार्यकाल) कहते हैं तथा इतने ही वर्ष तक यह प्रलय अवस्था में रहता है, इसे सृष्टि का प्रलयकाल कहते हैं। चूँकि वर्तमान से इस सृष्टि को बने हुए १ अरब ९६ करोड़ वर्ष से कुछ अधिक काल ही हुआ है। अतः लभभग २ अरब ३६ करोड़ वर्ष तक आगे भी यह इसी प्रकार चलती रहेगी तब प्रलय प्रारंभ होगी।

प्रलय की प्रक्रिया '**उत्पत्ति की प्रक्रिया**' से विपरीत क्रम से होती है। प्रलय प्रारंभ होने पर ईश्वर सर्वप्रथम मनुष्य जाति का विनाश करता है। तत्पश्चात् पशु, पक्षी, कीट, पतंग व वनस्पतियों का। सजीव सृष्टि के विनाश के बाद ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि का विनाश करता है व उन्हें ५ स्थूल भूतों में परिवर्तित कर देता है। फिर इन पाँच भूतों को ५ सूक्ष्म भूतों में, ५ सूक्ष्म भूतों व ११ इन्द्रियों (५ कर्मेन्द्रियाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ व १ मन को) अहंकार में, अहंकार को महत्तत्त्व में व महत्तत्त्व को मूल प्रकृति (सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था) में परिवर्तित कर देता है। इस प्रलयावस्था में अमुक्त जीवात्माएँ मूर्छित रूप में रहती हुई किसी प्रकार का भी सुख-दुःख अनुभव नहीं करती हैं। जबकि मुक्त आत्माएँ ईश्वर के आनंद में पूर्ववत् मग्न रहती हैं।

इस प्रकार संसार की रचना व विनाश एक के बाद एक क्रमशः होते रहते हैं। यह रचना व विनाश का क्रम अनादिकाल से इसी प्रकार होता आया है व आगे भी अनन्त काल तक इसी प्रकार चलता रहेगा। इसलिए संसार चक्र को '**प्रवाह से अनादि**' एवं '**प्रवाह से अनन्त**' कहते हैं।

ओ३म्
साधना से मुक्ति
(योगदर्शन सूत्र प्रक्रिया द्वारा)
१०
नितान्त मुक्ति
पुरुषार्थशून्यानां गुणानाम् ...
४–३४
९
संस्कारों की दग्धबीज भाव अवस्था,
(जीवनमुक्ति) १–५१ २–२७
योगी का नाम 'कुशल'
'चरमदेह'
८
असम्प्रज्ञात समाधि
१–१८
७
परवैराग्य
...गुणवैतृष्ण्यम्। १–१६
६
सम्प्रज्ञात समाधि १–१७
वितर्क, विचार,
आनन्द, अस्मिता
ऋतम्भरा–प्रज्ञा
५
अपर वैराग्य
...वशीकरण संज्ञा वैराग्यम्।
१–१५
४
विवेकख्याति
ईश्वर, जीव, प्रकृति
का पृथकत्व
ज्ञान
३
धारणा, ध्यान (३–१,२)
२
प्रत्याहार (२–५४)
१
यम, नियम, आसन, प्राणायाम
(योग द. सू. २–२९)
'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'
१–२
संपादक - ज्ञानेश्वरार्य
दर्शन योग महाविद्यालय,
आर्य वन, रोजड़,
सागपुर, (साबरकांठा)
गुजरात-३८३३०७

साधना से मुक्ति

किस प्रक्रिया द्वारा साधना-योगाभ्यास करने से मुक्ति मिलती है, यह विषय इस लेख में महर्षि पतञ्जलि रचित योगदर्शन के अनुसार प्रस्तुत किया गया है ।

योग दर्शन में बताए यम-नियम आदि आठ अङ्गों का अनुष्ठान करते हुए मन को सभी बुराइयों से तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंघ इन पाँच विषयों की तृष्णा से हटाकर ईश्वर में लगाने का नाम '**साधना**' है और जन्म-मरणादि सब दुःखों से छूटकर ईश्वरीय आनन्द भोगने का नाम '**मुक्ति**' है ।

इस चित्र में १० पर्वत बताए गए हैं, जो क्रमशः अधिक-अधिक ऊँचे हैं । इन पर्वतों की ऊँचाइयों से साधक के योगाभ्यास का स्तर दर्शाया गया है । ज्यों-ज्यों साधक योगाभ्यास में सफलता प्राप्त करता जाता है, त्यों-त्यों उसका स्तर ऊँचा होता जाता है ।

साधना के प्रारंभिक स्तर में योगाभ्यासी व्यवहार में यम-नियमों का पालन करता हुआ स्थिरता पूर्वक ईश्वर का ध्यान करने के लिए पद्मासन अथवा सिद्धासन आदि कोई आसन लगाता है तथा मन को रोकने के लिए प्राणायाम करता है ।

मन के रुक जाने पर नेत्रादि इन्द्रियों का अपने-अपने रूपादि विषयों के साथ संबंध नहीं रहता, अर्थात् इन्द्रियाँ शान्त होकर अपना कार्य बंद कर देती हैं, इस स्थिति का नाम '**प्रत्याहार**' है ।

इस प्रकार अधिकार में किए मन को ईश्वर के ध्यान के लिए किसी स्थान पर स्थिर कर देने का नाम '**धारणा**' है । धारणा की स्थिति सम्पादित करके ईश्वर को प्राप्त करने के लिए ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का निरंतर चिंतन कर पाना '**ध्यान**' कहलाता है ।

ध्यान करने से साधक को संसार के तीन अनादि तत्त्वों (ईश्वर-जीव-प्रकृति) के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, इस स्थिति को '**विवेकख्याति**' कहते हैं ।

विवेकख्याति की प्राप्ति के पश्चात् योगाभ्यासी का सांसारिक विषय भोगों के प्रति राग समाप्त हो जाता है । इस स्थिति को '**अपर वैराग्य**' नाम से कहा गया है ।

अपर वैराग्य की प्राप्ति के पश्चात् साधक को '**सम्प्रज्ञात समाधि**' की प्राप्ति होती है । इस स्थिति में साधक की बुद्धि ऋतम्भरा (सत्य को ही धारण करने वाली) बन जाती है । सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाएँ होती हैं – वितर्क, विचार, आनंद व अस्मिता । ये क्रमशः उत्तरोत्तर ऊँची अवस्थाएँ हैं, इनमें साधक को ५ स्थूल भूतों, ५ सूक्ष्म भूतों, ५ ज्ञानेन्द्रियों, १ मन, १ बुद्धि, १ अहंकार, मूल प्रकृति तथा स्वयं अपना (जीवात्मा का) साक्षात्कार होता है ।

सम्प्रज्ञात समाधि के बाद साधक को '**परवैराग्य**' की प्राप्ति होती है । उस स्थिति में ईश्वर के आनंद, ज्ञान, बल आदि गुणों को जानकर ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम व श्रद्धा उत्पन्न होती है । इससे साधक को संसार के उपादान कारण मूल प्रकृति अर्थात् सत्त्व–रज–तम नामक तीनों गुणों के प्रति तृष्णा समाप्त हो जाती है ।

परवैराग्य के पश्चात् साधक को ईश्वर का साक्षात्कार होता है । इस स्थिति को योग दर्शन में '**असंप्रज्ञात समाधि**' नाम से कहा गया है ।

असंप्रज्ञात समाधि को लम्बे काल तक (वर्षों तक) लगा लगाकर साधक ईश्वर से विशेष ज्ञान, बलादि गुणों को प्राप्त करता हुआ धीरे–धीरे अपनी अविद्या के समस्त संस्कारों का नाश (दग्धबीजभाव अवस्था में पहुँचाना) कर देता है । यह स्थिति प्राप्त करने वाले साधक को '**कुशल**', '**चरमदेह**', '**जीवन मुक्त**' नाम से कहा गया है ।

जीवन मुक्त व्यक्ति जब शरीर छोड़ता है, तब उसे नया शरीर नहीं मिलता, वह परम पिता परमात्मा के समीप रहता हुआ ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्ष तक आनंद भोगता है इसी को **नितान्त मुक्ति, पूर्ण मुक्ति** कहते हैं । यही मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है ।

* * * * *

ओ३म्

योगादेव तु कैवल्यम्

दर्शन योग महाविद्यालय

वैदिक दर्शन अध्यापन एवं योग प्रशिक्षण का आदर्श संस्थान

संक्षिप्त परिचय

आर्य वन विकास क्षेत्र, रोजड़, पत्रालय : सागपुर, जि. साबरकांठा, गुजरात
दूरभाष : (०२७७४) ७७२१७, (०२७७०) ८७४१७
E-mail : darshanyog@icenet.net

स्थापना : दर्शन योग महाविद्यालय की स्थापना चैत्र शुक्ला प्रतिपदा विक्रम संवत् २०४३ (१० अपैल १९८६) को श्री स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक द्वारा हुई ।

उद्देश्य

(१) महर्षि पतंजलि प्रणीत अष्टाङ्गयोग की पद्धति से उच्च स्तर के योग-प्रशिक्षकों को तैयार करना, जो देश-विदेश में प्रचलित मिथ्यायोग के स्थान पर सत्य योग का प्रशिक्षण दे सकें ।

(२) विशिष्ट योग्यता वाले वैदिक-दार्शनिक विद्वानों का निर्माण करना जो सार्वभौमिक युक्तियुक्त, अकाट्य, वैज्ञानिक, शाश्वत, वैदिक सिद्धान्तों का, बुद्धिजीवी वर्ग के समक्ष प्रभावपूर्ण शैली से प्रतिपादन करके, उनकी नास्तिकता मिटाकर उन्हें वैदिक धर्मानुयायी बना सकें ।

(३) निष्काम भावना से युक्त, मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर तन, मन और धन से सम्पूर्ण जीवन की आहुति देने वाले व्यक्तियों का निर्माण करना, जो अपनी और संसार की अविद्या, अधर्म तथा दुःखों का विनाश करके उसके स्थान पर विद्या, धर्म तथा आनन्द की स्थापना कर सकें ।

प्रवेश के लिये योग्यता

- प्रवेश केवल ब्रह्मचारियों के लिए (आजीवन ब्रह्मचारियों को प्राथमिकता),
- समर्पित भावना से युक्त होकर पूर्ण अनुशासन में रहना,
- वैदिक सिद्धान्तों में निष्ठा होना,
- योगाभ्यास तथा दर्शनों के अध्ययन में रुचि होना,
- संस्कृत भाषा पढ़ने, लिखने, बोलने में समर्थ होना (व्याकरणाचार्य, शास्त्री या समकक्ष योग्यता वालों को प्राथमिकता),
- यम-नियमों का श्रद्धा पूर्वक पालन करना,

- निष्काम भाव से समाज-राष्ट्र की सेवा का संकल्प होना,
- त्यागी, तपस्वी, सदाचारी होना,
- अध्ययन काल में घर से या स्वजनों से सांसारिक सम्बन्ध न होना,
- अवस्था १८ वर्ष से अधिक होना,

विशेष

प्रवेश लेने वाले ब्रह्मचारियों का तीन मास तक बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक परीक्षण किया जाता है । ब्रह्मचारी के योग्य सिद्ध होने पर ही स्थाई प्रवेश दिया जाता है ।

संस्थान की विशेषताएँ

(१) प्रत्येक ब्रह्मचारी को पक्षपात रहित (=समान रूप से) भोजन, वस्त्र, दूध, घी, फल, पुस्तक, आसन आदि सभी वस्तुएँ निःशुल्क प्राप्त हैं ।

(२) प्रतिदिन कम से कम दो घण्टे व्यक्तिगत योगाभ्यास (ध्यान) करना अनिवार्य है ।

(३) प्रतिदिन क्रियात्मक योग प्रशिक्षण, (जिसमें विवेक, वैराग्य, अभ्यास, ईश्वरप्रणिधान, मनोनियंत्रण, ध्यान, समाधि, तथा स्वस्वामिसम्बन्ध = (ममत्व) को हटाना, इत्यादि आध्यात्मिक सूक्ष्म विषयों पर विस्तार से विवेचन) किया जाता है ।

(४) यम-नियमों का मनसा, वाचा, कर्मणा, सूक्ष्मता से पालन कराया जाता है ।

(५) दिन में ६ घण्टे का मौन रहता है, (जिसमें ध्यान-स्वाध्याय आदि सम्मिलित हैं) ।

(६) रात्रि में आत्मनिरीक्षण होता है । (जिसमें दिन भर के दोषों का सबके समक्ष ज्ञापन तथा भविष्य में सुधार हेतु प्रयत्न किया जाता है) ।

(७) वार्तालाप का माध्यम संस्कृत भाषा है ।

(८) प्रतिदिन यज्ञ, वेद पाठ तथा वेदमन्त्र का स्वाध्याय होता है ।

(९) सप्ताह में एक बार आसन-प्रशिक्षण तथा पक्ष (=१५ दिन) में एक बार व्याख्यान प्रशिक्षण होता है ।

(१०) दर्शनों की लिखित एवं मौखिक परीक्षाएँ ली जाती हैं ।

(११) प्रातः काल ४ बजे से रात्रि ९-३० बजे तक आदर्श एवं व्यस्त गुरुकुलीय दिनचर्या है ।

दर्शनयोग महाविद्यालय द्वारा प्रकाशित
अन्य विशेष साहित्य

१. सत्यार्थ प्रकाश (गुजराती)
२. उपदेश मञ्जरी (गुजराती)
३. आत्मकथा-महर्षि दयानंद (गुजराती)
४. ब्रह्मविज्ञान (हिन्दी, गुजराती)
५. अध्यात्म सरोवर भाग-१ (हिन्दी, गुजराती)
६. अध्यात्म सरोवर भाग-२ (हिन्दी)
७. तत्वज्ञान (हिन्दी, गुजराती)
८. क्रियात्मक योगाभ्यास (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी)
९. ईश्वर सिद्धि (हिन्दी, अंग्रेजी)
१०. आर्यों के सोलह संस्कार (हिन्दी)
११. दार्शनिक निबंध (हिन्दी, गुज.)
१२. पीड़ित गौमाता के उपकार (हिन्दी, गुजराती)
१३. आपणां संप्रदायो (गुजराती)
१४. पर्यावरण प्रदूषण (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी)
१५. प्रेरक वाकय (हिन्दी, गुजराती)
१६. आसन व्यायाम (गुजराती)
१७. सत्यार्थ प्रकाश की तेजधाराएँ (हिन्दी, गुजराती)
१८. आयुर्वेदिक सरल उपचार (गुजराती)
१९. योग मिमांसा (हिन्दी, गुजराती)
२०. सरल योग से ई. साक्षात्कार (हिन्दी, गुजराती)
२१. योगदर्शन भाष्य (हिन्दी, गुजराती)
२२. गायत्री मंत्र (हिन्दी, गुजराती)
२३. ऋषिओं का संदेश (हिन्दी, गुजराती)
२४. संध्यासार (हिन्दी, गुजराती)
२५. ईश्वर प्रणिधान (हिन्दी, गुजराती)
२६. वैदिक धर्म का संक्षिप्त परिचय (हिन्दी, गुजराती)
२७. क्रोध को कैसे दूर करें ? (हिन्दी)
२८. झूठ बोलने से हानि एवं सत्य बोलने से लाभ (हिन्दी)

❖ मुख्य वितरक ❖

आर्य रणसिंह यादव

द्वारा - डॉ. सद्गुणा आर्या

'सम्यक्' पो. गांधीग्राम, जूनागढ - ३६२००१.